भारत का मूर्तिशिल्प

एक परिचय

लेखक
डॉ० चार्ल्स एल० फ़ाबरी

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

लेखक की अन्य रचनाएं

गाइड टु दि स्टोन एज, १६४७
इंडियन फ्लेमिंगो, १६४७
ए फंडामेण्टल हिस्ट्री आव इंडियन आर्ट, १६६०
ए हिस्ट्री आव इंडियन ड्रेस, १६६०
एन इण्ट्रोडक्शन टु इडियन आर्किटेक्चर, १६६३
एनुअल रिपोर्ट्स आव दि आर्कायलाजिकल सर्वे आव इंडिया
१६३०–३१, १६३१–३२, १६३२–३३, १६३३–३४

अनुवादक : वीरेन्द्रकुमार गुप्त

मूल्य पचीस रुपये

यह पुस्तक एजुकेशनल रिसोर्सेज सेण्टर, नई दिल्ली, यूनिवर्सिटी आव दि स्टेट आव न्यूयार्क, दि स्टेट एजुकेशन डिपार्टमेंट, के सामान्य कार्यक्रम के अन्तर्गत संयुक्त रूप से प्रकाशित की गई है।

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६ द्वारा प्रकाशित और शिक्षा भारती प्रेस जी० टी० रोड, दिल्ली-३२, तथा उषा प्रिंटर्स, नेशनल हाउस, तुलो रोड, बंबई-१ द्वारा मुद्रित

आभार-स्वीकार

दुर्भाग्य की बात है कि यह पुस्तक लेखक के मरणोपरान्त प्रकाशित हो रही है।

मेरे पति ने मार्च १६६८ में इसकी पांडुलिपि पूर्ण कर दी थी और अपने देहान्त के चार मास पूर्व इसे प्रकाशक को सौंप दिया था। मैं जानती हूं कि वे उन अनेक मित्रों, प्रशंसकों और संस्थाओं के प्रति, जिनके हार्दिक सहयोग के कारण इसका प्रकाशन संभव हुआ है, अपना आभार अवश्य प्रदर्शित करना चाहते, इसलिए मैं उनकी ओर से यह कार्य करना उचित समझती हूं।

श्री डलास टेनब्रेक ने बड़े परिश्रम से और बहुत समय देकर इसका प्रकाशन सम्पन्न किया है। मुझे ज्ञात है कि श्री आर्टर ईज़ेनबर्ग, जो अब फोर्ड फाउंडेशन में परामर्शदाता है, मेरे स्वर्गीय पति को यह पुस्तक लिखने को, जो विशेष रूप से छात्रों और कला के अध्यापकों के लिए उपयोगी हो, प्रेरित करने के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है। एजुकेशनल रिसोर्सेज़ सेंटर के भूतपूर्व डायरेक्टर डॉ० हेनरी फर्ग्यूसन ने सेंटर के सामान्य कार्यक्रम के अन्तर्गत इस पुस्तक को लेने में बड़ी सहायता की है। पुस्तक के मुद्रण में श्री पुतली और श्री वलसावर ने बहुत व्यक्तिगत रुचि ली है और उसे बड़े संतोषजनक रूप में सम्पन्न किया है। कई और मित्रों, कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय तथा पेरिस के मूज़े गुइमे सहित विभिन्न संग्रहालयों के निदेशकों, और भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, सभी ने बहुत सहायता की है और पुस्तक में व्यवहृत कुछ सुन्दर चित्रों का उपयोग करने का अधिकार दिया है। दिल्ली के श्री मदन महट्टा ने इनके बड़े सुन्दर फोटो तैयार किए और श्री विष्णु पंजाबी ने मुखपृष्ठ का उत्कृष्ट रंगीन चित्र दिया है।

मैं इन सबकी अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

रत्ना माथुर फ़ाबरी

अनुक्रम

सूचना :

चित्र १५ और १६ को एक-दूसरे के साथ प्रस्तुत करने के लिए चित्र १४ को क्रम से हटाकर चित्र १६ के बाद लिया गया है।

भूमिका

यूनानियों के बारे में कहा जा सकता है कि मूर्तिशिल्प उन्होंने पहले-पहल मिस्र, असीरिया और मिनोअन क्रीट के निवासियों से सीखा था। रोमवालों के विषय में भी कहा जा सकता है कि मूर्तिशिल्प की दृष्टि से यूनानी उनके गुरु थे और इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि बाइज़ेन्टियम और रोम के आरम्भिक ईसाइयों ने अपने मूर्तिशिल्प की नींव इन पूर्ववर्तियों के कार्य पर ही रखी थी। इटली के पुनरुत्थान के समय की मूर्तिकला और उसके बाद की यूरोप की समूची मूर्तिकला के बारे में भी किसी के मन में कोई संशय नहीं है : सभी ने अपने से पहले की पीढ़ी से ही सीखा है।

भारतीय मूर्तिशिल्प के आकर्षक तत्त्वों में एक यह है कि विदेशी प्रभाव का कोई चिह्न उसमें कठिनाई से ही दीख पड़ता है। बिलकुल आरम्भ में कुछ ईरानी प्रभाव अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु बहुत शीघ्र ही वह झड़कर अलग हो जाता है। फिर पूरी तरह भिन्न एक कला-शैली का विकास भारत में होता है जो, जब एक बार अपने निजी रूप में निखरने लगती है, तो उसमें किसी पारसीक योगदान को ढूढ़ पाना लगभग असभव हो जाता है। थोड़े-से समय के लिए एक बार फिर, और वह भी भारत के पश्चिमी सीमात के एक बहुत ही छोटे-से क्षेत्र में, बाद के यूनानी-रोमन और एशियाई-यूनानी तत्त्व बहुत थोड़ी देर के लिए प्रवेश करते दिखाई देते हैं, पर यह स्थिति मूर्तिकला की भारतीय पद्धति और शैली में कठिनाई से ही कोई परिवर्तन ला पाती है और वह भी सिर्फ उन सीमान्त क्षेत्रों में ही।

शेष सब इतने सच्चे रूप में भारतीय है, इतने पूरे रूप में एकमात्र आन्तरिक विकास का परिणाम है, कि व्यक्ति यह कहने को बाध्य हो जाता है कि भारतीय बिम्ब-रचना अपनी स्वतन्त्रता और मौलिकता की दृष्टि से विश्व-भर में अकेली है। तथ्य यह है कि इसने बृहत्तर भारत अर्थात् सुदूर पूर्व के बाली, बर्मा, कम्बोदिया, चीन, जापान, जावा और थाइलैंड की कला को बहुत कुछ प्रभावित किया है।

भारतीय कला से सम्बन्धित कितनी ही पुस्तकें इस पक्ष की उपेक्षा करती प्रतीत होती हैं। वे शैली के विकास के आकर्षक क्रम की दृष्टि से भारतीय मूर्तिशिल्प पर विचार ही नहीं करतीं। लगता है, भारतीय प्रतिमाओं के धार्मिक पक्ष और उनकी विषय-वस्तु पर आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया गया है।

इस पुस्तक में मैंने वस्तु और विषय को अपने ऊपर हावी न होने देने की कोशिश की है और उस शैली की विवेचना की है, जो युग से युग और शताब्दी से शताब्दी तक विकास करती चली गई है। वस्तुतः कला के इतिहास की सच्ची विषय-वस्तु यह शैली ही है और यद्यपि इतनी छोटी-सी पुस्तक में मूर्तिकला के पूरे विकास को कदम-दर-कदम प्रस्तुत करना संभव नहीं है, फिर भी मेरा विश्वास है कि यदि भारतीय मूर्तिकला के इतिहास को इस ढंग से आपकी दृष्टि के सामने उद्घाटित किया जाएगा, तो इस महान और मौलिक कला-रूप के सौन्दर्य और लालित्य की एक पर्याप्त स्पष्ट झांकी आपको मिल सकेगी।

दिल्ली, मार्च १९६८ — चार्ल्स फ़ाबरी

भारतीय मूर्तिशिल्प का इतिहास दो हजार वर्ष से ज्यादा पुराना है।

इन दो हजार से अधिक वर्षों में उसमें कितने ही परिवर्तन हुए हैं। हर युग, हर सदी में रुचि, रीति और शैली में परिवर्तन होते रहे हैं। रीति और शैली में आए इन परिवर्तनों का इतिहास ही कला का इतिहास है। उनसे इतिहास रोचक बना है—सचमुच यह इतिहास कोई मूर्ति किस देवी-देवता की है, इस ज्ञान मात्र से कही अधिक रोचक है। उदाहरणार्थ, हर सदी में बुद्ध अथवा पार्वती की मूर्तियां बनाई गई है और केवल यह जान लेने से कि यह मूर्ति बुद्ध की या पार्वती की है, आप बहुत कम जान पाते हैं। ये मूर्तियां हर सदी में इतने अधिक अलग-अलग रूपों में बनाई गई हैं, कि यदि आप केवल विषय तक अर्थात् किसी कला-कृति की विषय-वस्तु तक अपनी रुचि को सीमित रखें, तो उसका सारा सौन्दर्य और आकर्षण ही आपकी दृष्टि से चूक जाएगा।

इससे कही अधिक आकर्षक वस्तु है 'रुचि में आने वाला परिवर्तन, शैली का विकास'। क्योंकि हर पीढी कलाकृतियों के माध्यम से सौन्दर्य की अपनी विशेष रुचि को, जिसे वह सुन्दर समझती है, उसको और अपने पूर्वजों के सौन्दर्य-सम्बन्धी आदर्शों को रद्द करने की अपनी प्रक्रिया को—अभिव्यक्ति देती है।

यह सोचना कि भारतीय कला इन सब सदियों में निरन्तर एक जैसी अर्थात् 'भारतीय' ही रही है, बहुत बड़ा भ्रम है। इसके विपरीत उसकी अपनी स्थानीय और राष्ट्रीय प्रकृति के बावजूद उसमें उल्लेखनीय परिवर्तन हुए है। कुछ सदियों में हर आदमी सादगी चाहता रहा है। औरों में बहुत ज्यादा और बहुत भरावदार अलकरण का फैशन रहा है। एक युग के मूर्तिकार समझ-बूझकर लाई गई गरिमा पसद करते है और उसे 'सुरुचि' कहते है। दूसरे युग में वे सजावट के इतने अधिक पक्षपाती हो जाते हैं कि मूर्ति के हर अंग को बहुत बारीकी से तराशे गए अलकरणों से सजाते हैं।

यह शैली है—शैली, जो हर युग में भिन्न होती है और निरन्तर बदलती रहती है। यह पुस्तक भारतीय कला के इतिहास की शैलियों के सम्बन्ध में है। धार्मिक विश्वासों और पुराणों के बारे में यह पुस्तक नही है। दूसरे शब्दों में, हम शिल्पकला के सौन्दर्य पर, और हर पीढी ने कलात्मक सृजन में स्वयं को जिस विधि से व्यक्त किया, उस पर विचार करेंगे।

आद्य* (Archaic) कला

विशेषज्ञों का कहना है कि ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक भारत में शिल्पकला बहुत ही कम थी। उस समय लकड़ो की कुछ प्रतिमाएं (इनमें से आज कुछ भी नहीं मिलता क्योंकि लकड़ी गल जाती है और लम्बे समय तक नहीं ठहरती) तथा

*सभी पारिभाषिक शब्दो को पुस्तक के अन्त मे दी गई शब्दावली मे समझाया गया है।

पकाई हुई मिट्टी और हाथी दांत की कुछ मूर्तियां बनाई गई होंगी, पर उनमें से जो थोड़ी-बहुत प्राप्त हैं, वे विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं।

ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट अशोक के वैभव-सम्पन्न शासन में भारतीय शिल्पकारों ने पत्थरों की प्रतिमाएं तराशना शुरू किया। यह कला उन्हें इतनी पसंद आई कि जल्द ही यह चलन बन गई। सम्राट ने स्वयं आदेश दिया कि जिन स्थानों पर अधिक लोग इकट्ठे होते हैं, वहां विशाल पाषाण-स्तम्भों की स्थापना की जाए। उसने कहा कि इन स्तम्भों पर सम्राट के उन राजकीय आदेशों को, जिनमें कहा गया था कि अधिकारी प्रजा के साथ न्याय और दया का व्यवहार करें, बुद्ध की शिक्षाओं पर चलें, निर्धनों, वृद्धों और रोगियों की सहायता करें और अच्छी सड़कें बनवाएं तथा और भी कितने ही लाभदायक आदेशों को उन पर उत्कीर्ण कर दें।

अपने शिल्पियों की सहायता के लिए अशोक ने ईरान से कुछ अनुभवी मूर्तिकार बुलाए। ये अपने साथ अपनी निजी धारणाएं भी लाए। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अत्यन्त आरम्भ के स्तम्भों पर पारसीक कला का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

चित्र संख्या १ में आप 'सारनाथ का सिंहशीर्ष' देखते हैं। यह अशोक के स्तम्भों में सम्भवतः सबसे प्रसिद्ध है। इसमें देखने की पहली बात यह है कि ईरानी अथवा भारतीय किसी भी शिल्पी ने अब तक ऐसी किसी कृति का निर्माण नहीं किया था। यह अधिकांश भारतीय कला की तरह एकदम मौलिक है। दूसरी ओर शीर्ष पर बने सिंह सहज नहीं हैं। ये यथार्थ के ध्यानपूर्वक निरीक्षण के परिणाम भी नहीं हैं। ये अत्यन्त आकारनिष्ठ (Formalistic) हैं। वस्तुतः ये पश्चिमी एशिया में प्राप्त कुछ अत्यन्त प्राचीन (३००० ईसा-पूर्व जितने प्राचीन) नमूनों से प्रेरित हैं। बार-बार वैसा ही करने के कारण शिल्पियों का यह स्वभाव बन चुका था कि सिंह के अयालों को छोटी-छोटी लपटों के आकार वाले केश-गुच्छों के रूप में तराशा जाए। इसी प्रकार यह भी प्राचीन परम्परा रही है, और ईरानियों ने भी इसका अनुसरण किया है, कि सिंह के ऊपरी ओंठ को तीन गहरी खोदी हुई रेखाओं के द्वारा प्रस्तुत किया जाए। ये कला के आकारवादी लक्षण हैं जिन्हें भारत के आरम्भिक आद्य कलाकार ने दाय में पाया है और उनका अनुसरण किया है। उलटे हुए कमल की बात भी ऐसी ही है। इसमें भी ईरान के स्तम्भ-शीर्षों का पूरी तरह अनुकरण किया गया है और हर पत्ती और पंखुड़ी को ठीक उसी आकार और रूप में तराशा गया है।

जब आप शीर्ष-फलक (abacus—शीर्ष तथा तिहरे सिंहों के बीच के भाग) पर बीच में निर्मित बौद्ध धर्म-चक्र के दोनों ओर बने दो पशुओं को देखते हैं, आप पाते हैं कि ये दोनों पशु—वृषभ और दौड़ता हुआ घोड़ा—एक बिलकुल ही भिन्न शैली में गढ़े गए हैं। ये दोनों बहुत सूक्ष्म निरीक्षण के बाद निर्मित हैं और बहुत उत्तम, प्रकृत एवं सजीव रूप में प्रस्तुत हैं। ईरान में ऐसा कुछ भी कभी नहीं बनाया गया। घोड़ा विशेष रूप से निरीक्षण एवं मूर्तिशिल्प इन दोनों की एक छोटी श्रेष्ठ कृति है। शीर्ष-फलक के पृष्ठ भाग में दो अन्य पशु हैं--सिंह और हाथी। ये दोनों भी उत्तम रूप में उत्कीर्ण हैं और भारतीय कलाकार के पशु-प्रेम (बौद्ध धर्म का आदेश था कि सभी प्राणियों से प्रेम करना चाहिए) तथा सहज दृष्टि से देखने की उसकी योग्यता के प्रमाण हैं। निश्चय ही यह उसने आरंभिक ईरान वालों से नहीं सीखा था।

चित्र संख्या २ में, अर्थात् 'रामपुरवा से प्राप्त अशोक के वृषभ-शीर्ष' में, ईरानी शिक्षकों से सीखी बातों तथा भारतीय कलाकार की निजी प्रतिभा का बड़ा ही अच्छा सामंजस्य देखने को मिलता है। उलटे हुए कमल का शीर्ष तो हर दृष्टि से एकदम पारसीक है और पूरी तरह आकारनिष्ठ है। शीर्ष-फलक के सब अलंकरण यद्यपि अत्यन्त सुन्दर रूप में गढ़े गए हैं, फिर भी उनमें एक भी ठेठ भारतीय तत्त्व नहीं है। ये अलंकरण हैं—गुलाब, ताड़ एवं एकेन्थस की आकृतियां। पुराने ईरानी

राजमहलों में इनके दर्जनों नमूने मिलते हैं।

लेकिन स्तम्भ के शीर्ष पर स्थित वृषभ न केवल भिन्न है, बल्कि ईरानी मूर्तिकारों द्वारा कभी भी निर्मित किसी भी पशु-आकृति से श्रेष्ठ है। ईरान के अखमेनीद सम्राटों के राजमहलों में प्राप्त वृषभ एकदम आकारनिष्ठ, जीवनहीन और मात्र सजावट लगते हैं। रामपुरवा गांव का यह अशोक-निर्मित वृषभ अनुरागपूर्ण निरीक्षण का फल एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमें भारत के प्रसिद्ध 'ककुत्स्थ' अथवा 'ब्राह्मणी' वृषभ को निर्मित किया गया है। इसका मुलायम मास आश्चर्यजनक रूप में सजीव है, पूछ चचल है, टांगे मजबूत हैं, नथुने कोमल हैं, और कान इस प्रकार तने हैं जैसे कि यह सचमुच सुन रहा हो।

यह ज्ञान, कि पत्थर को जो भी आकार आप देना चाहें दे सकते हैं, लोगों की कल्पना में गहरा घर कर गया। सम्राट ने मूर्तिकला का उपयोग अपने विशाल साम्राज्य में अपनी घोषणाओं को, अच्छे शासन-सम्बन्धी अपनी धारणाओं को, प्राणियों के प्रति दया भाव के अपने विचारों को, प्रचारित करने में किया। पर साधारण जन ने मूर्तिकार से माग की कि वह उसके प्रिय देवताओं की प्रतिमाए बनाकर उसे दे। इस प्रकार गहरी धार्मिक आस्था के विषय उनके प्रिय देवताओं के उन्मुक्त रूप में खडे आकारों के रूप में एक प्रकार की लोकप्रिय कला के दर्शन हमें होते है। ये प्रतिमाए पुजारियों के महान देवताओं की मूर्तियां नही हैं, बल्कि ग्रामीणों के उन स्थानीय उपदेवताओं की मूर्तियां हैं, जिन्हे यक्षी (अप्सराए अथवा वन-देवियां) तथा यक्ष (पुरुष आत्माएं अथवा उप-देवता) कहा गया है।

इस युग (लगभग २५० ईसा-पूर्व) की प्राचीनतम उपलब्ध पाषाण-प्रतिमाए ऐसी ही हैं। इनमें एक है 'परखम (मथुरा के निकट) का यक्ष' (चित्र संख्या ३) जो पत्थर की बड़ी, वास्तविक से भी अधिक बड़ी, आकृति है। यह आरम्भ की आद्य कला का ठेठ नमूना है। यह कठिन, रूढ़, जीवनहीन, सीधी-समक्ष अत्यन्त सममित रचना है और इसमें बिलकुल कोई गति नहीं है। दोनों भुजाएं (जो अब नहीं हैं) मूलतः शरीर के साथ सीधी लटकी रही होंगी। इस तरह यह आद्य प्रतिमा ऐसी लगती है जैसे कोई सैनिक सावधान स्थिति में जड़-मुद्रा बनाए खड़ा हो।

फिर भी यदि आप ध्यान से देखें तो पाएगे कि शरीर के अग समान अनुपात में हैं। वक्ष मजबूत है और धड़ पुस्त्वपूर्ण। कन्धे चौड़े और शक्तिशाली है। पुरुष आकृति के विशाल आकार तथा ठोसपन का यह भाव विशेष रूप से भारतीय है और बाद की कला में भी अक्सर पाया जाता है। ठोस पुंस्त्व-पूर्ण एव मांसल आकृति की यही भावना अगले चित्र (सख्या ४) 'पटना के यक्ष' (पटना बिहार राज्य में है और सम्राट अशोक के समय में यह नगर राजधानी था) में भी आप पाएगे। दूसरी उत्तम, यद्यपि आद्य मूर्ति किसी अपरिचित स्थानीय उपदेवता की है (यह हिन्दू धर्म के प्रमुख देवताओं में से किसी की नही है) और 'परखम के यक्ष' जितनी ही कठिन (चित्र ३) और जीवनशून्य है, लेकिन यह कुछ अच्छे ढंग से तराशी गई है। वस्त्रों के विन्यास तथा कन्धे पर डाले गए अग-वस्त्र पर काफी ध्यान दिया गया है। कमरबन्द भी अधिक अच्छी तरह उत्कीर्ण है और उसमें फुंदने लटक रहे है। इस प्रतिमा के चूंकि अग्र और पृष्ठ दोनो पक्ष हैं, इसलिए हार के सूत्र तक को आप पीछे बधा देख सकते है। इतना होने पर भी इसमें जीवन नही है, गति नही है। जिस ढंग से यह आकृति खड़ी है, वह अच्छा नही है। सभी देशों में सभी आद्य प्रतिमाए लगभग इसी बचकाना ढग से खड़ी दिखाई गई है। मिस्र की आद्य कला में भी ऐसा ही था और ऐसा ही यूनानी आद्य कला में भी था। आरम्भिक मूर्तिकार ऐसे ही कारीगर थे।

प्रथम उच्चित्र (Relief) मूर्तिशिल्प

भारतीय मूर्तिकार को ये विशाल पाषाण प्रतिमाए कुछ विचित्र और अपरिचित-सी लगती थी। ये मूर्तिकार वस्तुतः पृष्ठ भाग को उत्कीर्ण देखना ही नहीं चाहते थे। ये सभवत सोचते होंगे कि देवता

को पीठ की ओर से कोई भी देखना नहीं चाहता।

भारतीयों के लिए प्रतिमा का सही स्थान दीवार पर है। चाहे वह चित्रित हो या पहले उत्कीर्ण होकर तब चित्रित की गई हो, मूर्ति को एक पृष्ठ-भूमि में से उभरकर बस थोड़ा-सा सामने उठना चाहिए। उसे दीवार का हिस्सा होना चाहिए। मूर्ति कला के प्रति भारतीय भावना के सबसे महत्वपूर्ण तत्वों में से एक यह है कि इन लगभग दो हज़ार वर्षों के पूरे इतिहास में भारतीय मूर्तिकारों ने गोलाकृत, अर्थात् जिन्हें हर ओर से देखा जा सकता है, प्रतिमाएं बिलकुल नहीं गढ़ीं अथवा शायद ही कोई गढ़ी हों। कुछ ही अपवादों के अतिरिक्त पूरी की पूरी भारतीय मूर्तिकला उच्चित्र रूप में तराशी हुई है, वह गोलाकृत मूर्ति-शिल्प नहीं है। तथ्य यह है कि चूंकि सभी भारतीय मूर्तियां रंगी जाती थीं (सभी प्राचीन यूनानी और रोमन मूर्तियां भी रंगी जाती थीं), इसलिए अधिकतर भारतीय उत्कीर्णन किसी चित्रकारीय धारणा के अनुकूल दीख पड़ते हैं, मूर्तिकार की त्रिआयामीय (tridimensional) धारणा के अनुरूप नहीं। आप इस चित्रकारीय धारणा को चित्र संख्या ७ में बहुत अच्छे रूप में देख सकते हैं। यह आकृति किसी जड़ी हुई तस्वीर जैसी लगती है।

जैसे ही भारत का कलाकार अपनी प्रिय वन-देवियों, अप्सराओं एवं आत्माओं की प्रतिमाओं को पत्थर में गढ़ने का आनंद खोजने में सफल हुआ, वह अपनी निजी धारणा के अनुसार चल पड़ा और प्रतिमाओं को उच्चित्रात्मक, अर्थात् पृष्ठभूमि से बस थोड़ी-सी उभरी हुई, बनाने लगा। ऐसी ही दो आनंदमय आदिम आकृतियां चित्र संख्या ५ में हैं—'भरहुत के यक्षी और यक्ष'। दोनों आद्य, कठोर और जीवनशून्य हैं, ठीक तीसरी सदी की गोलाकार प्रतिमाओं जैसे। अन्तर सिर्फ इतना है कि ये उच्चित्र-उत्कीर्णन हैं, एक विशाल पत्थर से बने जंगले की सजावट के अंग। यह जंगला कभी किसी पवित्र कब्रगाह अर्थात् कथित स्तूप को घेरे रहा होगा। दाहिनी ओर का पुरुष यक्ष प्रार्थना में हथेलियां जोड़े दिखाया गया है। लेकिन कलाकार सामने की आकृति को अनुपात में लाने की पद्धति शायद नहीं जानता था, इसलिए उसने हथेलियों को एक ओर को दबा दिया है। पैर भी अत्यन्त मनोरंजक रूप में बगलों की ओर मोड़ दिए गए हैं। इसका कारण भी यही है कि मूर्तिकार बहुत जानकार नहीं था। इसके अतिरिक्त यह आकृति भी वैसी ही रूढ़, सीधी-समक्ष और जीवनशून्य है। भारी-भरकम पगड़ी और वेशभूषा सुन्दर रूप में गढ़ी गई है तथा पहने हुए आभूषण भी सुनिर्मित हैं। यह कोई पहाड़ों में रहने वाला देवता है। इसीलिए इसे चट्टान पर खड़ा दिखाया गया है। बायें निचले कोने में एक छोटा-सा पेड़ है, जिसकी शाखाओं पर तोते खेल रहे हैं।

उसी आकृति में स्त्री यक्षी अथवा वनदेवी भी समान रूप से आदिम और रूढ़ है। उसके एक हाथ से लगता है मानो वह सावधान मुद्रा में खड़ी हो। दूसरे में कोई फूल रहा होगा। उसका केश-विन्यास आकर्षक है। सिर पर एक रूमाल बंधा है। गले में शानदार हार पड़े है और कपड़े के शायद कामदार कमरबन्द के नीचे धातु की जंजीरों से बनी एक बहुत बढ़िया तगड़ी बंधी है। कमर से ऊपर यह कुछ नहीं पहने है। प्राचीन काल की कोई भारतीय स्त्री ऊपर कुछ नहीं पहनती थी। इसके पैर भी दोनों ओर को छितरे हैं क्योंकि कलाकार इन्हें अधिक अच्छे रूप में प्रस्तुत करना नहीं जानता था। यह आकृति स्थिर और जीवनशून्य है।

ये सब प्रतिमाएं निश्चय ही २५० से १५० ईसा-पूर्व के बीच गढ़ी गई होंगी। अगले पचास वर्षों में कलाकार में एक बड़ा भारी परिवर्तन आया। वह अब इन जीवनशून्य काष्ठवत् आकृतियों से सन्तुष्ट न रहा और जैसे ही उसे अगला अवसर मिला, उसने इन आकृतियों में कुछ जीवन फूंकने का प्रयत्न किया। आप चित्र संख्या ६ की 'देवी चूलकोक' में इस बड़े परिवर्तन को देख सकते हैं। देवी चूलकोक एक सामान्य वनदेवी अथवा वृक्ष देवी है जो लोक-विश्वास के अनुसार चित्र में प्रदर्शित वृक्ष में रहती है। यद्यपि कई रूपों में यह चित्र संख्या ५ की यक्षी के बहुत अनुरूप है, फिर भी यह चूलकोक वनदेवी कहीं अधिक जीवनपूर्ण



सारनाथ का सिंह-शीर्ष । पालिश किया हुआ बलुआ पत्थर । अशोक का शासनकाल लगभग २७२-२३२ ईसापूर्व । (फोटो : भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण) ४

चित्र १



६ रामपुरवा में प्राप्त वृषभ-शीर्ष । पालिश किया हुआ बलुआ पत्थर । अशोक का शासनकाल—
लगभग २७२-२३२ ईसापूर्व ।
(फोटो : भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण)

चित्र २



परखम का यक्ष। विशाल आकृति। गुलाबी बलुआ पत्थर। लगभग २५० ईसापूर्व। ७

(फोटो प्रेस सूचना कार्यालय, भारत सरकार)

चित्र २



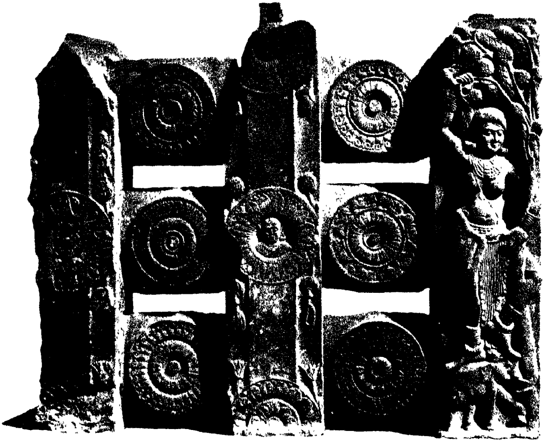
८ पटना का यक्ष। मानवाकार। बलुआ पत्थर। पीछे और सामने के चित्र। तीसरी शताब्दी ईसापूर्व।
(फोटो : भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता)

चित्र ८



भरहुत के यक्षी और यक्ष : भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता, में रखा हुआ बलुआ पत्थर का जंगला। ८
दूसरी शताब्दी ईसापूर्व।
(फोटो : भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता)

चित्र ५

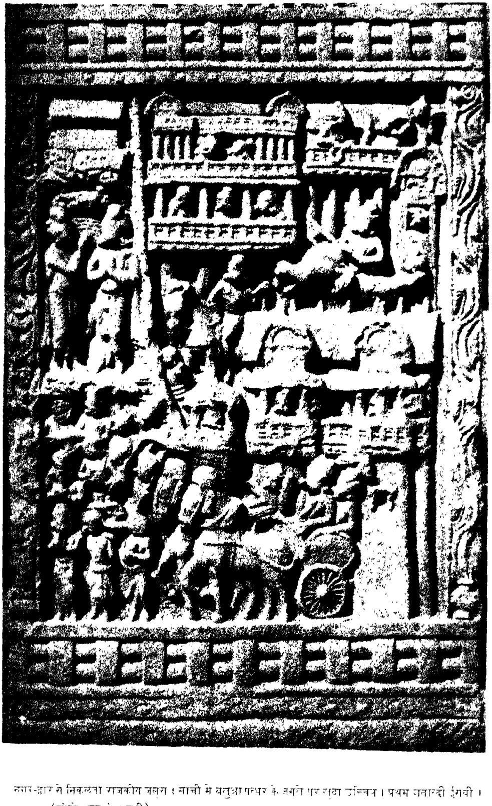


२री श० ई० पू० । उत्कीर्ण आकृति । भरहुत से प्राप्त गुलाबी बलुआ पत्थर का जंगला ।
कमल के वृत्ताकार उत्कीर्ण भी प्रदर्शित ।
(फोटो भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण)



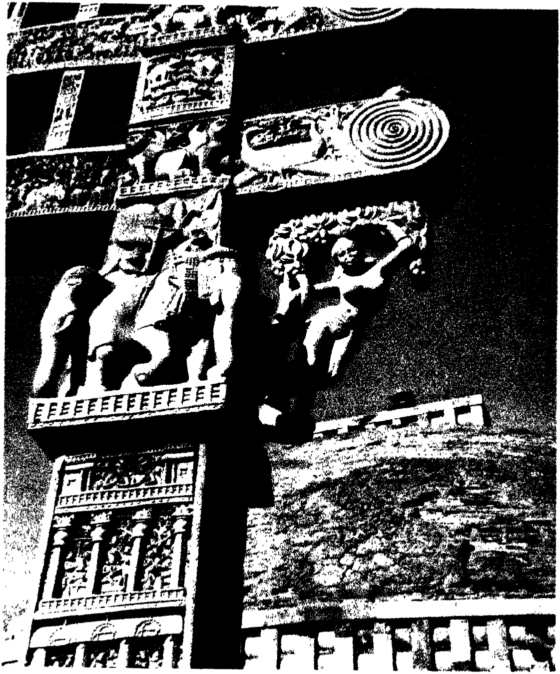
बुद्धिमान मृग रुरु की कथा। भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता। भरहुत के एक जंगले का वर्तुलाकार उत्कीर्णन। ११
लगभग १०० ईसापूर्व।
(फोटो : भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता)

चित्र ७



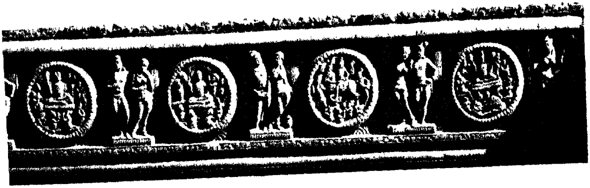
२८ नगर-द्वार से निकलता राजकीय जलूस। साँची में बलुआ पत्थर के जंगले पर गढ़ा उच्चित्र। प्रथम शताब्दी ईसवी।
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र ८



सांची स्तूप के पूर्वी द्वार का एक भाग। एक वृक्ष-देवी की कोष्ठक आकृति। बलुआ पत्थर। प्रथम शताब्दी ईसवी।
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र ६





पत्थर की शहतीर पर अंकित बुद्ध का जीवन। नागार्जुनकोंडा। तीसरी शताब्दी ईसवी।
(नीचे : युगल का एक चित्र)
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र १०



बौने दैत्य पर खड़ी और अपने पालतू पक्षी से खेलती एक अप्सरा। ऊपर छज्जे पर एक दासी शृंगार प्रसाधन दे रही है और एक महिला अपनी पलकों को रंग रही है। तीसरी शताब्दी ईसवी। (फोटो सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार)

चित्र ११



राजगिरी की नागिनी। मनियार मठ में ईंट की दीवार पर बनी गच-मूर्ति। चौथी शताब्दी ईसवी।

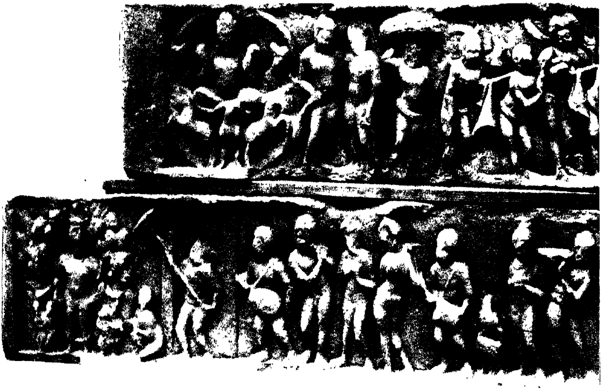
(फोटो : भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण)

चित्र १२



नागराज और उसकी रानी । चट्टान पर खुदा उच्चित्र । अजन्ता । पाँचवीं शताब्दी । १७
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र १३



मन्दिर की ओर जाते हुए दो जुलूस। गढ़वा के एक मन्दिर से प्राप्त सरदल। ४५०-५०० ईसवी।

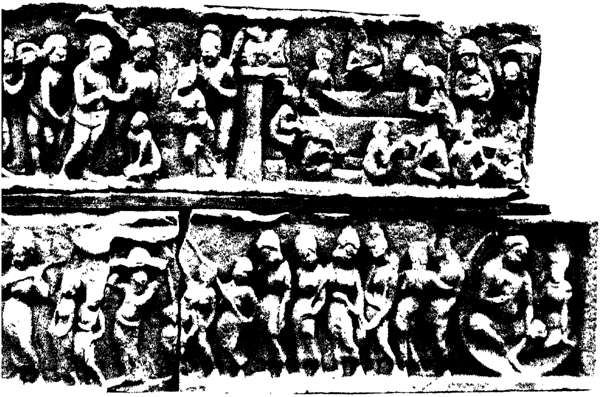
ऊपर बायें कोने में : सूर्य देवता।

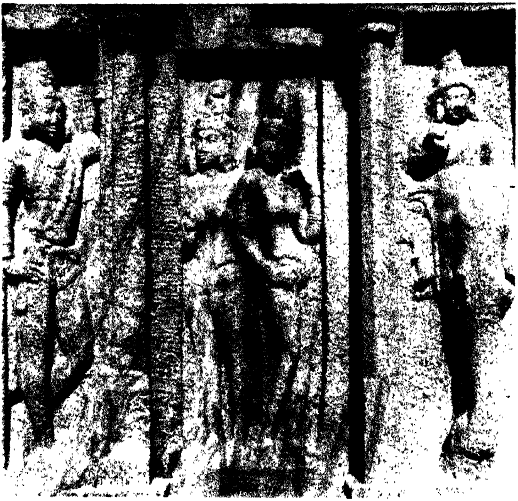
ऊपर दायें कोने में : मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठे भीख लेते भिखारी।

नीचे दायें : चन्द्र देवता और उसकी रानी।

नीचे बायें : मुनि के आगे झुका हुआ राजा।

चित्र १५-१६





दो रानियाँ, रक्षक और महावत के साथ हाथी । अर्जुन के रथ की पूर्वी मुहार । मामल्लपुरम् ।
चट्टान पर उत्कीर्ण । ६५० ईसवी ।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र १८

है। यह एक टांग हिला रही है और इसकी दोनों बांहें गतिशील हैं। इसका चेहरा भी सीधा-समक्ष नहीं है बल्कि बगल की ओर मुड़ा हुआ है और केश-विन्यास को प्रदर्शित कर रहा है। इसके पैरों के नीचे एक छोटा-सा हाथी है जो एक अधीन आत्मा अथवा उसका वाहन है, जो वनदेवी चूलकोक की आज्ञाओं को ले जाता है। इस प्रकार यद्यपि अभी भी यह आकृति आद्य और आदिम है, फिर भी आप इसमें उन आरम्भिक कदमों को देख सकते हैं जिन्हें कलाकार एक सजीव, गतिशील मानवीय आकृति को पेश करने के उद्देश्य से उठा रहा था।

अगला कदम और भी अधिक मनोरम है। मूर्तिकार को अधिकाधिक महत्वाकांक्षी कार्य सौंपे गए। वह चुनौती को स्वीकार करता है और नये समाधान खोजने तथा सच्चे प्रस्तुतीकरण एवं गतिशीलता के विषय में अधिकाधिक खोज करने का प्रयत्न करता है।

चित्रों से समानता

ये गोलाकार उच्चित्र (medallions) एवं चित्र-वल्लरिया (friezes), जो प्राचीन कथाएं, आख्यान और कहानियां कहती है और जिनसे स्तूप के जंगले के कितने ही पत्थर भरे हैं, लगभग सभी चित्रों जैसी ही है। इस प्रकार चित्र ७—'रूरू, बुद्धिमान मृग की कथा'—शिक्षाप्रद कथाओं में से एक है। इसे एक गोलाकार ढांचे में प्रस्तुत किया गया है। चित्र की ही तरह इसमें एक अग्रभूमि, एक मध्यभूमि और एक पृष्ठभूमि है। सामने एक नदी बहती है, पीछे पेड़ है और आदमी और पशु मिलकर इस चित्र को पूरा करते हैं। सभी पशु अच्छे निरीक्षण के परिणाम हैं और अलग-अलग मुद्राओं में उत्कीर्ण है। लेकिन अधिक रोचक बात यह है कि नदी तट पर खड़ी दो मानवीय आकृतियां पूरी तरह अत्यन्त आद्य रूप में रूढ़, जीवनशून्य, सीधी-समक्ष एव काष्ठ प्रतिमाओं जैसी प्रस्तुत हैं। लेकिन इसके थोड़ा पीछे, कलाकार को धनुषबाण लिए आखेट करते एक राजा को लाना पड़ा है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक बिलकुल नये प्रयास की अपेक्षा हुई है और मूर्तिकार ने अपना काम बहुत ही अच्छे रूप में किया है। उसने आदमी को पीठ की ओर से तीव्र गति के क्षण में बाण खींचते हुए और उसे छोड़ते हुए उत्कीर्ण किया है। वस्तुतः पिछले दो सौ वर्षों में उसने बहुत काफी सीखा है।

इससे भी अधिक प्रभावोत्पादक वह चित्र है जो चित्र सख्या ८ के उच्चित्र उत्कीर्णन में प्रस्तुत है। इसका शीर्षक है 'नगर-द्वार से निकलता हुआ राजकीय जुलूस।' यहां हमें नगर का एक विहगम दृश्य देखने को मिलता है, जिसके मध्य रथ पर चढ़ा और अपने सुसज्जित सैनिकों से घिरा एक राजकुमार नगर-द्वार से निकल रहा है। नगर-द्वार विशाल आकार का है, जो सम्भवतः कच्ची ईंटों से बना है और जिसमें पहरेदारों के लिए बांस के छज्जे उभरे हैं। नगर-द्वार की मेहराबी छत के पीछे एक हाथी, जो राजकीय जुलूस का ही एक हिस्सा है, और नगर की एक पूरी गली दीख पड़ती है, जिसमें स्त्री और पुरुष नगर-द्वार से गुजरते जुलूस को देखने के लिए खिड़कियों और छज्जों (ये सब बांस या लकड़ी के बने हैं) से झाक रहे है। यह भीड़भाड़ से भरा और कुछ गड़बड़ाया-सा, सजीव और उल्लासप्रद दृश्य है। इसमें नगर और नदी को उसकी गतिशीलता के साथ, जिसमें लोग चल-फिर रहे हैं और कुछ हड़बड़ाए हुए भी है, उसके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में बहुत स्पष्टता से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

अपनी कलगी से सजा हर घोड़ा बहुत ही बढ़िया तराशा गया है। ऊपर बायें कोने पर एक और रोचक चीज़ है—सुदूर नदी तट पर स्थित चट्टान पर बनी एक छोटी-सी मिट्टी की आदिम झोंपड़ी जिस पर छप्पर पड़ा है। इन आकृतियों में अब कोई भी कठोर अथवा रूढ़ नहीं है। कलाकार इन्हे अधिकाधिक गतिशील बनाने और विभिन्न मुद्राओं में तराशने के योग्य हो गया है। लकड़ी के खम्भों और छज्जों वाले ये घर ईसा की पहली सदी में बनने वाले घरों के

अत्यन्त आकर्षक उदाहरण हैं।

तीसरी और दूसरी सदी ईसा-पूर्व में जब मूर्तिकार ने रूढ़ और जीवनहीन मानवीय आकृतियां पहले-पहल तराशी थीं, तब से वह अब बहुत काफी आगे बढ़ आया है। ईसा की पहली सदी तक वह ऐसी साहसपूर्ण और रमणीक कृति बनाने के योग्य हो गया है जैसी कि चित्र संख्या ६, 'एक वृक्ष-देवी की कोष्टक आकृति' में दीख पड़ती है। यह आकृति विशाल सांची स्तूप के पूर्वी द्वार का एक हिस्सा है। अत्यन्त सुन्दर रूप में उत्कीर्ण यह वृक्ष-देवी, जो अपने वृक्ष की शाखाओं से लटकती दीख पड़ रही है, चित्र संख्या ५ और चित्र संख्या ६ में प्रस्तुत आरम्भिक यक्षी आकृतियों से बहुत आगे निकल आई है और यह कोई मामूली सौन्दर्य की स्त्री-आकृति नहीं है। इसमें मूर्तिकार यह सकेत देने में सफल हुआ है कि यह उस वृक्ष का एक हिस्सा है जिसकी यह आत्मा है। यह स्त्री-आकृति उन कमनीय स्त्री-आकृतियों की पूर्वगामिनी है, जिन्हें भारतीय कलाकार ने आने वाली सदियों में अत्यन्त उल्लासपूर्वक तराशा।

इस चित्र में हाथी भी उतने ही अच्छे ढंग से तराशे गए हैं। वे एक प्रकार के शीर्ष हैं। दो आकर्षक मोर भी वृक्ष-देवी के वृक्ष के ऊपर निकल आई अर्गला पर बने हैं। बाकी मुख्य द्वार के यद्यपि बहुत ही थोड़े हिस्से दीख पड़ते हैं, फिर भी यह दर्शनीय है कि पार्श्व बहुत ही उमगपूर्ण खुदाइयों से भरे हैं। स्तम्भों वाले वृक्षों में लम्बी चित्र-वल्लरियों पर पवित्र कथाओं एवं आख्यानों को अकित किया गया है। ये वल्लरियां उत्साहप्रद दृश्यों एवं विभिन्न मुद्राओं में अकित अनेकों मानवीय आकृतियों से भरपूर है।

पवित्र और पार्थिव

यह सोचना एकदम गलत होगा कि भारतीय मूर्तिकार धर्म में ही रुचि रखता था और अपनी मूर्तियों के माध्यम से वह देवताओं अथवा बुद्ध एवं उनके शिष्यों को ही प्रस्तुत करता था। इस बात का काफी प्रमाण है कि अन्य सभी देशों के साथी कलाकारों की तरह भारतीय मूर्तिकार भी अपने चारों ओर के जीवन, विशेषकर रोजमर्रा के हास-विलासों, में बहुत अधिक रुचि लेता था। भारतीय मन्दिर,मठ एवं गुफाएं अत्यंत सुन्दर रूप में तराशी गई स्त्री-आकृतियों से भरी है। ये आकृतियां स्त्री रूप के अंकन में निरतर बढ़ती उसकी कुशलता और रुचि को प्रदर्शित करती हैं। इसी के समानांतर मूर्तिकार रूपवान पुरुष-आकृतियों, वीर योद्धाओं एव राजाओं का, तथा खेतों, कारखानों अथवा घरों में काम करने वाले मामूली मजदूरों का भी प्रशंसक था और इनकी आकृतियां भी उसने तराशी हैं।

आरभिक बौद्ध कला में बुद्ध के प्रति आदर-भाव इतना अधिक था कि उन्हे मानव रूप में कभी प्रस्तुत नही किया गया। आम तौर से बोधिवृक्ष ही उनका प्रतिनिधित्व करता रहा। उनकी मृत्यु के बाद ४५० वर्ष बीत जाने पर ही बौद्ध भिक्षु की वेशभूषा पहने मानव रूप में उन्हें प्रस्तुत किया गया। अतः बुद्ध की मूर्तियां उनकी सही प्रतिकृतियां नहीं हो सकती। वे कलात्मक रचनाए हैं और पूरी तरह काल्पनिक हैं। यह कोई नही जानता कि जब वे भारत के गांवों में अपने दर्शन का प्रचार करते हुए चालीस वर्षों तक घूमे थे, तब वे कैसे लगते थे। ईसा को लगभग दूसरी सदी तक बुद्ध की मूर्तियां सामान्य हो गई। चित्र संख्या १० में जो पत्थर की लम्बी शहतीर दीख रही है, उसमें बुद्ध भगवान के जीवन से लिए गए चार दृश्य अंकित है, जिनमें प्रत्येक छोटे वलय अथवा गोलाकार तमगे के रूप में उत्कीर्ण है। इसका शीर्षक है—'बुद्ध के जीवन की सगमरमरी शहतीर, नागार्जुनकोंडा'।

इसमें जो बात कही अधिक रोचक है, वह यह है कि बुद्ध के जीवन के हर दृश्य के बाद एक प्रेमी-युगल उत्कीर्ण है। इनमें से एक को उसी पृष्ठ पर नीचे कुछ बढे हुए रूप में दे दिया गया है। पहली दृष्टि में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन प्रेमी-युगलों की आकृतियां अपेक्षाकृत बड़ी हैं और बुद्ध के जीवन के छोटे-छोटे दृश्यों की तुलना

में बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण दीख पड़ती हैं। यह समझना तो मूर्खता होगी कि इन शहतीरों को तराशनेवाले लोग अधार्मिक थे पर इससे इन्कार नही किया जा सकता कि छोटे वलयों की अपेक्षा इन मानवीय युगलों को कही अधिक महत्व दिया गया था। इस संगमरमरी शहतीर की तिथि लगभग २३० ईसवी होगी और यह प्रकट है कि इस समय तक कलाकार सौ वर्षों पहले के अपने पूर्वगामियों की अपेक्षा बहुत अधिक कुशल हो गया है। परिवर्धित चित्र में प्रस्तुत युगल बहुत ही उत्तम रूप में तराशा गया है। सुदृढ़ पुरुष-आकृति और सुकुमार लचीली स्त्री-आकृति दोनो ही सरल और गतिशील हैं। उनका हर हाथ-पैर अलग-अलग मुद्रा में और सजीव है। यह प्रकृति के ध्यानपूर्ण निरीक्षण का परिणाम है। सिर शायद जितने होने चाहिए, उससे थोड़े बड़े हैं। इसके बावजूद इन आकृतियों में हम क्लासिक पूर्णता के बहुत निकट पहुच चुके हैं। लम्बी शहतीर में उत्कीर्ण हर युगल की भाव-मुद्राएं और रुख अलग-अलग है और वे विभिन्नता एवं सजीवता से पूर्ण है। दो युगलों में लड़की पुरुष की ओर देख रही है। एक में उसका हाथ उसके ओठों पर है और दूसरे में वह अपने प्रमी के कन्धे पर हल्की-सी झुकी है। यह सब इस बात का प्रबल प्रमाण है कि रोजमर्रा के जीवन मे कलाकार की रुचि है तथा इस सुन्दर लचकीले शरीर अर्थात् मानवी आकृति की अनेको भाव-दशाओं और स्थितियों के प्रेक्षण एव अंकन की उसमें पूरी सामर्थ्य है। शताब्दियों के गुजरने के साथ सुन्दर स्त्री-आकृति में बढ़ती हुई उसकी रुचि साफ नजर आती है। इनमें अधिकतर आकृतियों को कपड़ों से अशतः ही ढका गया है क्योंकि इस देश मे, जिसको जलवायु पूरे वर्ष ही बेहद गर्म रहती थी, और रहती है, उन प्राचीन युगों में लोग अधिक कपड़े नहीं पहनते थे। प्राचीन यूनान की तरह कुछ आकृतियां पूरी तरह नग्न भी उत्कीर्ण की गई हैं, यद्यपि भारत में अक्सर उन्हें कोई निचला वस्त्र पहने हुए ही दिखाया गया है। हर देश के मूर्तिकारों और चित्रकारों को मानवीय आकृति में सदा ही बहुत रुचि रही है और भारत इसका अपवाद नहीं था।

अप्सराएं, वनदेवियां और जलदेवियां

प्राचीन यूनान की तरह ही प्राचीन भारत में भी सामान्य जन पुरोहितों के उच्च देवताओं में अधिक व्यक्तिगत रुचि लेते प्रतीत नही होते। लोग छोटे, अल्पतर देवताओं से अधिक प्रेम करते थे। देश के हर हिस्से में ये देवता, हर प्रकार की अप्सराएं और उनके पुरुष साथी यक्ष उनके साथ बसते थे। इसके अतिरिक्त कितनी ही भूतात्मक अथवा प्राकृतिक आत्माएं थीं जो पेड़ों में (वनदेवियां) अथवा सोतों, नदियों, झीलों और झरनों में (जलदेवियां) बसती थी। कुछ को सर्प (नाग-नागिनियां) रूप माना जाता था जो धरती के नीचे अथवा पानी में रहती थीं। पुरुष हो या स्त्री, ये नाग-नागिनियां साधारण लोगों के सबसे निकट और सबसे प्रिय देवता थे। जब मूर्तिकार से कुछ उत्कीर्ण करने के लिए कहा जाता था तब वह इन्ही की आकृतियों को सबसे अधिक अनुरागपूर्वक तराशता था।

दूसरी और तीसरी शताब्दियों में आद्य कला बहुत तेजी से क्लासिक कुशलता, योग्यता एवं पूर्णता की ओर बढ़ आई है। धर्म और कला के बड़े केन्द्रों, जैसे कि मथुरा नगरी (वर्तमान उत्तर प्रदेश मे स्थित) में, इन प्राकृतिक आत्माओ की आकृतियों को श्रेष्ठ एव उत्फुल्ल रूप में तराशा जाता था। बौद्ध स्तूपों के जंगले इन मोहक आकृतियों से भरे हुए हैं (बुद्ध ने इनका कही विशेष जिक्र नहीं किया है। सिर्फ उनके पूर्वजन्मों की कहानियों, जातक कथाओं में इनका उल्लेख आया है।) क्योंकि आरम्भिक बौद्ध धर्म देवी-देवताओं को कोई मान्यता नही देता था। मथुरा में इन उपदेवताओं की कुछ बडी ही मोहक आकृतियां हर प्रकार की मुद्राओं में तराशी गई है।

चित्र संख्या ११, 'पालतू पक्षी से खेलती अप्सरा' शीर्षक आकृति में ऐसी ही एक सुन्दर स्त्री को एक बौद्ध स्तूप के कटहरे पर उत्कीर्ण किया गया है। वह एक बौने प्रेत के ऊपर खड़ी है और बहुत ही मीठे ढग से मुसकरा रही है। यह

सुमुखी सुन्दरी बहुत ही कम कपड़े पहने है। बड़ी ही आकर्षक मुद्रा में वह झुकी हुई है और पिंजड़े से अभी-अभी मुक्त उसका पालतू पक्षी उसके बालों पर चोंच मार रहा है। इस आकृति में न सिर्फ असाधारण कुशलता, विशेषकर स्तनों अथवा नितम्बों के कोमल मांस को वैसा रूप देने की योग्यता, प्रकट है, बल्कि अंगों के अनुपात भी अत्यन्त सही हैं और मुद्रा नैसर्गिक एवं शोभन है। इस आकृति के ऊपर एक छज्जे पर का छोटा-सा दृश्य भी उतना ही सुन्दर बन पड़ा है। यहां एक युवती शीशे में देखकर सौन्दर्य-प्रसाधनों से अपने मुख का शृंगार कर रही है। दुःख की बात है कि मूर्ति में शीशा टूटा हुआ है। वह काजल से अपनी बरौनियों को अनुरंजित कर रही है। दासी एक छोटी-सी सन्दूकची पकड़े है, जो शायद अन्य सौन्दर्य-प्रसाधनों, क्रीम, रूज और अन्य चीज़ों, से भरी है। यह सब न सिर्फ पवित्र और आध्यात्मिक से बहुत दूर की चीज़ है, बल्कि अत्यन्त पार्थिव और दुनियावी है। जिस मूर्तिकार ने इस कमनीय स्त्री को इतनी उत्तमता से तराशा है, उसने कोमल एवं आकर्षक स्त्री शरीर के एन्द्रिक सौन्दर्य के प्रति अपने अनुराग को छिपाया नहीं है। अत्यन्त उत्कृष्टता और बारीकी से तराशी गई धातु की तगड़ी और आभूषणों की भी उपयोगिता यही है कि उनसे तन की कोमल सुकुमारता को और ज़्यादा उभारा जा सके।

चौथी और पांचवीं शताब्दियों तक भारतीय कला उस स्थिति तक पहुंच चुकी थी जिसे क्लासिक कहा जाना चाहिए। क्लासिक शैली का अर्थ विषय पर पूरा अधिकार होना ही नहीं है, बल्कि इस सारे कौशल और ज्ञान का सौन्दर्य-सृजन के उदार प्रयोजन में उपयोग करना भी है। इसमें हर चीज़ आदर्श होती है। यथार्थ को सिर्फ इसीलिए जाना जाता है कि सौन्दर्य और पूर्णता से युक्त कृतियों की रचना में उसका उपयोग किया जा सके। क्लासिक कला में एक गरिमा और अभिजात्य मिलता है, जो किसी अतिरंजना, अत्युक्ति अथवा नाटकीयता की बिलकुल आज्ञा नहीं देता।

क्लासिक का आदर्श

तीन सौ से पांच सौ ईसवी तक की दो शताब्दियों में कलाकार जिस वस्तु को भी छूता है, उसी को संयम से पूर्ण एक आदर्श सौन्दर्य में बदल देता है। चित्र संख्या १२ में बिहार राज्य में प्राप्त 'राजगिरि की नागिन' ऐसी ही एक नज़ाकत और संवेदना के साथ ढाली गई आकृति है। यह नागिन लज्जापूर्वक आंखें झुकाए है और बहुत ही सहज एवं ललित मुद्रा में खड़ी है। इससे अधिक स्वाभाविक मुद्रा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके सुन्दर अंगों के अनुपात निर्दोष हैं। हल्की-सी गोलाई लेती इसकी भौंहें और पलकें बहुत ही मनोरम हैं। ये कुछ भारी हैं, जैसी कि भारतीय सुन्दरियों की पलकें अक्सर होती हैं। इसके बाल छोटी-छोटी घुंघराली लटों के रूप में कंधों पर पड़े हैं। चौथी और पांचवीं शताब्दियों में ऐसा ही फैशन था, जो छठी में नहीं रहा। यह गहने भी कम और हल्के ही पहने है (भारी गहनों का रिवाज छठी शताब्दी में आया)। यह एक बहुत बढ़िया और बारीक कपड़े की घाघरी पहने है, जो उसकी टांगों को अधिक ढक नहीं पाती। इसके सिर के पीछे का वलय सांप के फन का एक हिस्सा है, जिससे संकेत मिलता है कि यह एक नागिन राजकुमारी है। यह मनोहर गच उच्चित्र अब नहीं है। यह ढह चुका है और इसकी यह फोटो पुरानी है।

सामंजस्य, सन्तुलन और शान्ति

चौथी और पांचवीं शताब्दियों की सभी क्लासिक मूर्तियों में यह शान्ति, सामंजस्य और सन्तुलन भरा है। उद्वेग, भीड़-भाड़, अत्यधिक हलचल और उत्तेजना इस क्लासिक कला के लिए अनजाने हैं और इस पूरी की पूरी शैली में इन्हें निरुत्साहित ही किया जाता है। भारतीय कला के इस सर्वोत्तम काल को संसार के किसी भी स्थान और किसी भी युग की सर्वोत्तम मूर्तिकला की तुलना में रखा जा सकता है।

पांचवीं शताब्दी की इस क्लासिक कला का एक प्रिय उदाहरण अजन्ता का चट्टान में कटा वह फलक है जिसे चित्र संख्या १३ में दिया गया है। इसका शीर्षक है 'नागराज और उसकी रानी'। धरती के अन्धकारमय गर्भों में से, जहां सर्प रहते हैं, गरिमा और शान्ति से युक्त यह चित्र उभरकर उठा है। नागराज राजकीय भव्यता के साथ बैठा है। उसकी आकृति शानदार और गरिमामय है और वह एक प्रभावोत्पादक मुकुट पहने है। उसकी रानी एक छोटी-सी कमनीय स्त्री है जो प्रेमपूर्वक उसके कंधे से सटी है। रानी की मुद्रा अत्यन्त सहज है। उसकी दोनों टांगें अलग-अलग आरामदेह और अनौपचारिक मुद्राओं में हैं। पीछे छाया में से (रेम्ब्रां जैसे चित्रकारों ने प्रकाश और छाया की इस तकनीक का इस्तेमाल किया है) एक दासी आधी उभरती है। वह पूरी निर्वस्त्र है और पीछे खड़ी राजकीयता का प्रतीक, चंवर, डुला रही है। सभी शरीर बहुत सुन्दर रूप में ढले है। राजा का पुरुष-तन शक्तिशाली और सुगठित है; दोनों स्त्रियां अभिजात, नाजुक और सुकुमार है।

कहीं कोई ज़्यादती, कोई अतिरंजना नहीं है। पूरी रचना बहुत ही सन्तुलित है। राजा दृश्य पर हावी है। दासी का सबसे कम महत्त्व है। वस्तुत, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह इसी बात का एक ठेठ उदाहरण है कि भारतीय उच्चित्र मूर्ति कम चित्र अधिक होते है। यह भी बहुत कुछ चौखटे में जडा एक चित्र ही प्रतीत होता है। यदि आप इस 'चित्र' की दो ओर बड़ी सुन्दरता से जड़े दो भित्ति-स्तम्भों को ध्यान से देखें तो आप पाएगे कि इन भित्ति-स्तम्भों पर किया गया अलकरण भी मामूली ही है। इनके जुटों का अधिक भाग अनलकृत और सादा है। क्लासिक कला की यही सबसे बडी विशेषता है, लेकिन इससे अगली दो सदियों में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आने वाला है। स्तम्भों और भित्ति-स्तम्भों पर बहुत ही बारीक और भरावदार अलंकरण किया जाता है। व्यक्तिगत आभूषणों के बारे में भी यही बात सच है। राजा और रानी के मुकुट निश्चय ही बहुत बढ़िया हैं पर इनके अतिरिक्त उनके शरीरों पर बहुत थोड़े गहने हैं: एक हार, कुछ कंकण, राजा का भुजबन्द और रानी का पायजेब। (रीतिवादी और बारोक (baroque) कालों में इनमें बहुत वृद्धि कर दी गई।) इस 'राजकीय रूपचित्र' के इस स्थिर दृश्य की सुन्दरता, गरिमा और प्रांजलता में कोई भी कमी नहीं है। यह एक क्लासिक आदर्शीकरण है; सौन्दर्य, सादगी और गरिमा का क्लासिक प्रेम इसमें प्रकट है।

शान्तिपूर्ण, स्थिर और सामंजस्यपूर्वक सन्तुलित इस क्लासिक कला का अगला उदाहरण भारत के सुदूर दक्षिण में मद्रास के निकट चट्टान काटकर बनाए गए एक मन्दिर से लिया गया है। चित्र संख्या १४ में प्रदर्शित हैं 'दो रानियां, एक रक्षक और हाथी-सवार'। मद्रास के निकट मामल्लपुरम् (जिसका लोकप्रिय नाम महाबलीपुरम् है) में पांचवीं शताब्दी का एक सुपरिचित छोटा-सा मदिर है जिसे 'अर्जुन का रथ' कहा जाता है। इसी की एक दीवार पर यह उच्चित्र उत्कीर्ण है। इस मदिर को छठी, यहां तक कि सातवीं शताब्दी तक की तिथि अक्सर दी गई है, पर ऐसी क्लासिक, इतनी पूर्ण और शान्तिमय रचना को यह तिथि देना गलत और असम्भव है। बीच का फलक अत्यन्त श्रेष्ठ स्त्री-सौन्दर्य की एक उत्तम कृति है। इसमें अकित छरहरे और ललित शरीरों वाली दो सुकुमार स्त्रियां, लगता है, जैसे अपने गौखों में सन्तोषपूर्वक विश्राम-सा कर रही हैं (और आप देखेंगे कि अगली शताब्दियों में वे अस्थिर हो उठी हैं)। दोनों अत्यधिक सुन्दर, मनोरम और अभिजात मुद्राओं में खड़ी हैं। उनकी आकृतियां आकर्षक और हलका-सा बल खाए हुए हैं। टांगें लम्बी हैं और उनके ललित चेहरे दो अलग-अलग कोणों पर मुड़े हुए हैं। उनकी चारुता और गरिमामय सम्मोहन आकर्षक स्त्रीत्व के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। वे जो कोई भी हों, निश्चय ही आध्यात्मिक अथवा बहुत धार्मिक प्रकृति की नहीं हैं। वे बस सुन्दर स्त्रियां हैं और इसी रूप में कलाकार ने उन्हें प्रस्तुत करना चाहा है।

बायें हाथ के गौखे में रक्षक है, जो एक लम्बा दंड हाथ में लिए है और इन दो स्त्रियों की अपेक्षा बहुत काफी लम्बा है। वह चौड़े कन्धों वाला सुन्दर पुरुष है। वह भी टांग पर टांग चढ़ाए सहज अविचलित मुद्रा में खड़ा है। जिस क्लासिक कलाकार ने इन तीन उच्चित्रों को तराशा था, उसके लिए नैसर्गिक मुद्राओं की विविधता कोई समस्या नहीं थी। अंकन में वह पूरा कुशल था। वास्तविकता से वह अच्छी तरह परिचित था और अपने इस ज्ञान का उपयोग विलक्षण सौन्दर्य के सृजन में करता था। जितने यथार्थ को लाने में वह समर्थ था, वह दाहिने गौखे में बने हाथी में अपने सर्वोत्तम रूप में देखा जा सकता है। धीमी चाल और मोटी चमड़ी वाले इस विशाल पशु की यह बहुत ही उत्तम और यथार्थ आकृति है। इसमें इस पशु को पूरे अधिकार के साथ प्रस्तुत किया गया है।

अंत में, यह बात भी देखी जानी चाहिए कि अजन्ता (चित्र संख्या १३) की तरह ही मामल्लपुरम् में भी चौखटे पर सजावट नहीं है। भित्ति-स्तम्भों पर अथवा फलक के ऊपर-नीचे की पट्टियों पर कठिनाई से ही एक-आध सजावटी रेखा होगी। इनमें क्लासिक सादगी पूरी तरह वर्तमान है।

एक विशिष्ट कलाकृति

चित्र संख्या १५-१६ में प्रदर्शित 'मन्दिरों की ओर जाते दो जुलूस' गढ़वाल (उत्तर प्रदेश) के एक छोटे से मन्दिर में प्राप्त एक उत्कृष्ट लम्बी चित्रवल्लरी पर उत्कीर्ण है। यह एक विशिष्ट कलाकृति है जिसका मुकाबला संसार के किसी भी देश की सर्वोत्तम प्रतिभा-कृतियों से किया जा सकता है। विशेष दक्षता की चीज है आकृतियों के बीच रखी गई खाली जगहों के द्वारा भीड़भाड़ के अहसास का परिहार। साथ ही जुलूस वालों (पतले आदमी, मोटे आदमी, छरहरी स्त्रियां, माताएं, नंगी स्त्रियां, वस्त्र लपेटे स्त्रियां, शिरोवस्त्र-सहित और उससे रहित पुरुष; ले जाई जानेवाली अनेक प्रकार की वस्तुएं, विभिन्न टोकरियों में खाने; बांसुरियां और ढोल, छतरियां और तलवारें और कितनी ही दूसरी चीजें) की मुद्राओं, उनकी हलचलों, आकारों और डील-डौलों में एक शानदार विविधता दिखाई गई है।

दो सरदलों में से ऊपर वाली में एक जुलूस दिखाया गया है जो दाहिनी ओर बढ़ रहा है और अन्त में एक मंदिर तक पहुंच रहा है, जहां द्वार-स्तम्भों के नीचे और पौड़ियों पर बैठे गरीबों को भोजन और दूसरी चीजें बांटी जा रही हैं। जुलूस का नेतृत्व एक व्यक्ति कर रहा है जो राजा ही होना चाहिए, क्योंकि एक सेवक उसके सिर पर प्रतिष्ठासूचक छत्र ताने हुए है।

निचली सरदल में जुलूस बायीं ओर को बढ़ रहा है। उसमें अधिकतर स्त्रियां हैं और बाजे-वाले हैं। बायीं ओर एक झुका हुआ व्यक्ति किसी देवता की मूर्ति के आगे प्रार्थना कर रहा है और एक सेवक उसके ऊपर छत्र ताने है। उसके पीछे-पीछे ढोलवाले और बांसुरीवाले चल रहे हैं। इनमें चौथी आकृति एक पूर्ण नग्न स्त्री की है जो बांसुरी बजा रही है और एक अत्यधिक सम्मोहक और रमणीक मुद्रा में हमारी ओर अपनी सुन्दर पीठ किए खड़ी है। पूरी क्लासिक ग्रीक मूर्तिकला में इस श्रेष्ठ स्त्री-आकृति से सुन्दर कोई वस्तु नहीं मिलेगी। अन्य अनेक आकृतियां भी उतनी ही दक्षता से तराशी गई हैं। उदाहरण के लिए, सबसे दाहिनी ओर (चन्द्र देवता और उसकी पत्नी से ठीक आगे) उस युगल को देखिए जिसमें स्त्री अपेक्षाकृत छोटी है और पुरुष की कमर में अपनी भुजा डाले है। इस निचली चित्र-वल्लरी के ठीक मध्य में कितनी ही स्त्रियां हैं जो शामियाने, चंदोवे अथवा मंडप के बांस उठाए हैं, जिसके नीचे एक आदमी कोई पवित्र वस्तु सिर पर रखे लिये जा रहा है।

इन विभिन्न व्यक्तियों के तराशने में जो सौन्दर्य पैदा किया गया है, वह अद्वितीय है। सब हलके कदमों से आगे बढ़ रहे हैं। कुछ एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं और कुछ अपने बोझ के नीचे दबे-दबे चल रहे हैं। कुछ बाजे बजा रहे हैं। तीन

प्रकार के ढोल, एक बांसुरी और एक शहनाई जैसा वाद्य हमें दीख पड़ रहा है। निचली वल्लरी में करतालों को भी सरलता से पहचाना जा सकता है। सबसे छोटा ढोल एक छोटा-सा लड़का बजा रहा है।

धीमे-धीमे बढ़ते अपने जुलूसों के साथ पूरी चित्र-वल्लरी में एक शान्त और सामजस्यपूर्ण वातावरण प्रदर्शित है। इनमें यदि कोई समूह उद्विग्न है तो वह उन भिखारियों का है जो मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठे हैं। उन्हें वैसा होना भी चाहिए। अन्त में मैं आपका ध्यान निचली सरदल के सबसे दाहिनी ओर खीचना चाहूंगा, जहां चन्द्र देवता और उसकी पत्नी उभार देकर तराशी गई वक्र चन्द्राकृति पर बैठे है। चन्द्र देवता को एक मांसल व्यक्ति दिखाया गया है। वह अपेक्षाकृत बहुत छरहरी अपनी पत्नी की ओर मुड़ा बैठा है और उसके हाथ के सकेत से प्रकट है कि वह कोई बात जोर देकर कह रहा है। बात करते हुए युग्म की यह बहुत ही दक्षतापूर्वक तराशी गई छोटी-सी आकृति है।

भारत में यूनानी कला

कुछ देर के लिए अपना ध्यान अब हम भारतीय कला के इतिहास के एक विचित्र परन्तु मनोहारी अध्याय की ओर ले चलते है। उत्तरी-पश्चिमी भारत के छोटे-से सीमांत क्षेत्र पर यूनानी सस्कृति-सम्पन्न पश्चिमी एशियाइयों (इनमें से अधिकांश रोम-साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों से आये थे) का आक्रमण हुआ था। इसके फलस्वरूप एक कला-रूप यहा विकसित हुआ जिसे आम तौर पर, यद्यपि गलत रूप से, गान्धार की यूनानी-बौद्ध कला कहते है। असल में इसमें भारी सन्देह है कि मुट्ठी भर वास्तविक यूनानी क्या कभी इस कला-रूप को कोई सीधा योगदान दे सके होंगे। फिर भी यह बिलकुल निश्चित है कि सम्भवतः रोमन प्रभाव वाले एशियाइयों, ईरानियों और भूमध्य सागरवालों के माध्यम से कला के यूनानी तत्त्व पहली शताब्दी ईसा-पूर्व इस देश में पहुंचे। यह बात फिर पूरे बल के साथ कही जानी चाहिए कि यह प्रभाव ऊपरी था, और भारतीय कला के इतिहास में इसका महत्त्व अस्थायी था। भारत के अन्य विशाल क्षेत्र इस यूनानी कला के बारे में कुछ नहीं जानते थे। वे अपने उसी निजी शैलीगत विकास में लगे रहे जो आद्य रूपों से चलकर धीमे-धीमे उन क्लासिक रूपों तक पहुंचा, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

यह ध्यान में रखना अत्यन्त महत्त्व का है कि गान्धार की यूनानी-बौद्ध कला में भी शैलीगत विकास का ठीक वही क्रम रहा जो भारत के अन्य सभी हिस्सों में रहा। अन्तर सिर्फ इतना है कि गान्धार में रोमन-यूनानी तत्वों की थोड़ी मिलावट रही। पहली शताब्दी ईसा-पूर्व में यूनानी-बौद्ध कला ठीक अपनी आद्य शैली में मिलती है। जैसा कि शेष भारत में हुआ, उसी तरह ईसा की पहली और दूसरी शताब्दियों में इसने आरम्भिक विकास किया, और तीसरी में यह अधिक कुशल बनी। चौथी और पांचवीं शताब्दियों में क्लासिक शैली विकसित हुई और उत्तम दक्षता, श्रेष्ठ सरचना, गहन गरिमा, अभिजात्य, उच्च आदर्श एव कौशल से पूर्ण कृतियां निर्मित की गईं। लगभग ५०० ईसवी से लेकर ६५० ईसवी तक गान्धार में भी रीतिवादी युग आया और इस युग के बाद की तिथियों की कृतियां लगभग वैसी ही बारीक शैली की हैं जैसी कि उस काल में किसी भी दूसरे हिस्से में तराशी गई कृतियां हैं। इस प्रकार शैली की दृष्टि से भारत हमेशा एक देश रहा है।

गान्धार क्षेत्र पर यूनानी फैशनों के प्रभाव के कितने ही सकेत मिलते हैं। कपड़े और वेशभूषा यूनानी और रोमन वस्तुओं की नकल है, स्तम्भ और उनके शीर्ष रोम के स्तम्भों जैसे हैं। एकेन्थस और शंखावर्त (volute) के डिजाइन अक्सर खुदे मिलते है और कुछ सिर हमें रोम की मानव आकृतियों और यूनान के सौन्दर्य-सम्बन्धी आदर्शों की याद दिलाते हैं। उदाहरण के लिए, माथे की सीध में सीधी बढ़ आई, सरल रेखा-सी नाक जिसमें कही उठान-गिरान नहीं है। यूनानी कला

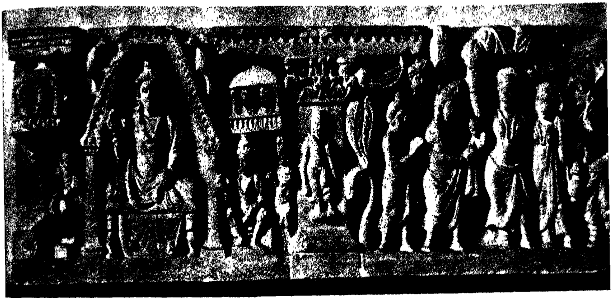
के इस हस्तक्षेप का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है बुद्ध-मूर्ति का आविष्कार। अभी तक बुद्ध को मानव रूप में कभी प्रस्तुत नहीं किया गया था। आरम्भिक बौद्धों के मन में इतनी श्रद्धा थी कि बुद्ध का प्रतिनिधित्व सदा एक प्रतीक ने (आम तौर पर बोधि वृक्ष ने) ही किया। ये विदेशी जो प्राचीन भारत के सीमान्तों पर आकर रहने लगे और बौद्ध बन गए, लगता है, बुद्ध की आकृति बनाने के लिए बेचैन हो उठे और उनकी मृत्यु के लगभग ४५० वर्षों बाद यूनानी-बौद्ध कलाकारों ने एक बुद्ध-मूर्ति का आविष्कार किया जो आधी यूनानी दार्शनिक जैसी और आधी बहुत-कुछ सुन्दर यूनानी देवता अपोलो जैसी थी। यह पूरी तरह काल्पनिक कृति ही बाद में प्रसिद्ध हुई और शेष भारत में इसमें भी बहुत काफी परिवर्तन लाए गए। (उदाहरण के लिए चित्र संख्या २४ में उड़ीसा के बुद्ध को देखिए)।

कितने ही लेखकों ने यह अटकल लगाई है कि सबसे अधिक यूनानी दीखने वाली आकृतियां सबसे शुरू की हैं और सबसे सुन्दर भी हैं। यह अटकल यूरोपीय पूर्वाग्रह का एक ठेठ नमूना है। सच्चाई इससे ठीक उलटी है। यूनानी प्रभाव मद्धिम गति से बढ़ा। पहली दो शताब्दियों की यूनानी-बौद्ध कला आद्य ढंग की है अर्थात् बहुत कुछ अनगढ़ है। आकर्षक यूनानी-रोमन तत्त्व बाद की शताब्दियों में ग्रहण किए गए और ये चौथी और पांचवी सदियों में सबसे ज्यादा प्रभावी रहे। यह तब की बात है जब भारतीय कलाकार रूप-विधान में बहुत दक्ष था और विदेशी कला-रूपों के प्रति भी बहुत उत्सुक था, जिससे उन्हें भी अपनी शानदार क्लासिक कृतियों में समेट सके। ईसा की सातवीं शताब्दी की उच्च बारोक कला में कोई यूनानी तत्त्व कठिनाई से ही बचा दीखता है। यह वह युग है जब यूनानी कला पश्चिमी एशिया में सब कहीं खत्म हो चुकी थी और इसी प्रकार रोम में भी समाप्त हो चुकी थी। फिर भी गान्धार शैली की सबसे सजीव और कमनीय मूर्तियां ६०० ईसवी के बाद ही मिलती है। आप देखेंगे कि भारत में भी हर कहीं यही युग उत्कृष्टतम है। यह रीतिवादी और बारोक कुशलता, उल्लासमय गति और सुकुमारता का स्वर्ण युग है।

आरंभिक यूनानी-बौद्ध कला

तुलना का एक अच्छा आधार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से एक पल के लिए हमें पीछे लौटकर आद्य शैली की कुछ गान्धार उच्चित्र मूर्तियों का निरीक्षण करना पड़ेगा। इस काल का एक बहुत बढ़िया उदाहरण चित्र सख्या १७ में प्रस्तुत चित्र-वल्लरी में है। इसके दायी ओर 'बुद्ध का जन्म' और बायीं ओर आधे में 'बुद्ध का अवतरण' दिखाया गया है। यह बात एकदम स्पष्ट हो जाएगी कि यह उच्चित्र लगभग उसी शैली का है, जिसका उपयोग चित्र संख्या ८ में सांची के 'राजकीय जुलूस' में किया गया था, और यह शायद उससे एक पीढ़ी पहले का है। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध को मानव-रूप में दिखाने का यह पहला प्रयास है। अन्यथा लकड़ी के छज्जों पर से झांकते हुए लोग, चलती हुई भीड़, सबके सब वैसी ही अनगढ़ मुद्राओं में तराशे गए हैं। बहुत बड़े सिर, संरचना की सादगी, पेड़ों का औपचारिक रूप—ये सब सांची और दूसरी जगहों पर मिलने वाली आद्य कृतियों की शैली में ही निर्मित हैं। यह दिखाने के लिए कि जब शिशु बुद्ध रानी मां माया के नितम्ब के दूसरी ओर प्रकट हो रहे थे, तब स्वर्गीय वाद्य बज रहे थे, छोटे बाजों (वीणा और ढोल) को अधर में लटका दिखाया गया है। चित्र-वल्लरी के बीचोंबीच एक स्तम्भ है जिस पर रोम के एकेन्थस के पत्तों से सजा एक शीर्ष है और कुछ वस्त्र भी पश्चिमी-एशियाई जैसे दीख पड़ रहे है। इन बहुत थोड़े से यूनानी प्रभावों के बावजूद यह पूरा उच्चित्र आद्य युग के किसी सांची उच्चित्र का निकट सबंधी प्रतीत होता है।

विशेष रूप से आन्ध्र राज्य के अमरावती और नागार्जुनकोंडा में अथवा उत्तर प्रदेश के मथुरा में ईसा की दूसरी शताब्दी तक शैली में अधिक कुशल कारीगरी तेजी से बढ़ती हुई पाई जाती है। गान्धार में भी समानान्तर विकास घटित हुआ है। ठीक



बुद्ध का जन्म (दाये) तथा बुद्ध का अवतरण (बायें)। शिस्ट पत्थर। गान्धार। पहली शताब्दी ईसवी।
(फोटो मूज़े गुइमे, पेरिस)

चित्र १७



विदेशियों द्वारा विजय का उत्सव । सलेटी पत्थर । गान्धार । चौथी शताब्दी ईसवी ।
(फोटो पहले कप्तान रिपक के संग्रह में था)

चित्र १६

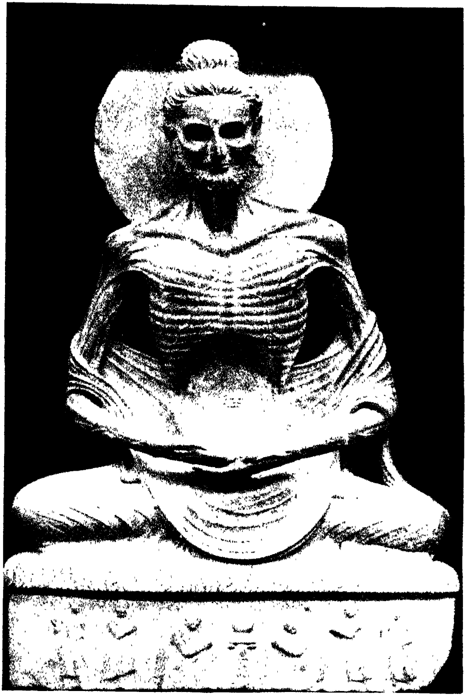


विदेशियों को उपदेश देते हुए बुद्ध। शिस्ट पत्थर। गान्धार। दूसरी शताब्दी ईसवी।
(फोटो मूजे गुइमे, पेरिस) चित्र १८



३२ राजकुमार के रूप में बोधिसत्व । शिस्ट पत्थर । गान्धार । चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी का आरम्भ ।
(फोटो : मुजे गुइमे, पेरिस)

चित्र २०



तपस्वी के रूप में बोधिसत्त्व । शिस्ट पत्थर । गान्धार । छठा शताब्दी का आरम्भ । २२
(फोटो : केन्द्रीय संग्रहालय, लाहौर)

चित्र २१



बुद्ध। कांसे की मूर्ति। छठी शताब्दी का आरम्भ। शायद बिहार से प्राप्त।
(फोटो बर्मिंघम संग्रहालय)

चित्र २२



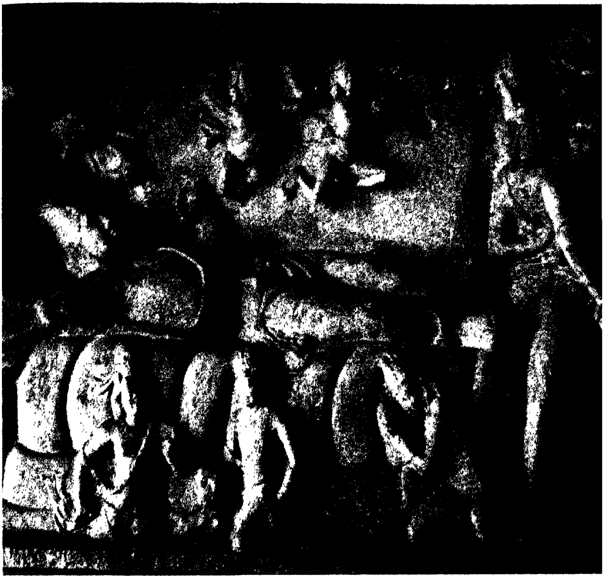
खड़े हुए बुद्ध । बलुआ पत्थर । उत्तर प्रदेश । पाँचवीं शताब्दी का अन्त अथवा छठी का आरम्भ । २५

(फोटो भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण)

चित्र २३



३६ रत्नागिरि के बुद्ध । बलुआ पत्थर । कटक (उड़ीसा) के निकट रत्नागिरि मठ से प्राप्त । छठी शताब्दी का आरम्भ ।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)



सोते हुए विष्णु। दुर्गा गुफा, मामल्लपुरम् में चट्टान पर उत्कीर्ण उच्चित्र। छठी शताब्दी का अन्त या
सातवीं का आरम्भ।
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र २५



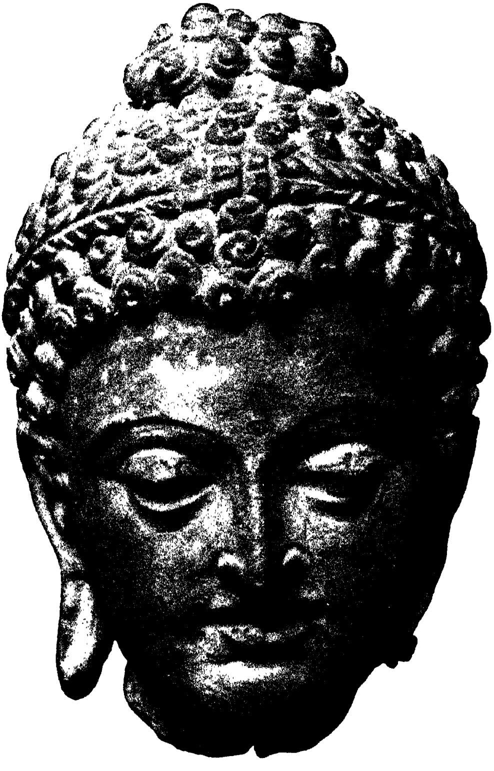
३८ मथुरा से प्राप्त विष्णु। गुलाबी बलुआ पत्थर। छठी शताब्दी ईसवी।
(फोटो : सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार)

चित्र २६



नर और नारायण । देवगढ़ (उत्तर प्रदेश) के दशावतार मन्दिर के एक पार्श्व पर खुदा उत्कीर्ण । ३८
छठी शताब्दी ईसवी । (फोटो सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार)

चित्र २७



[illegible] ... ४०० और ५०० ईसवी के बीच का ।
४० ([illegible])

चित्र २८



अखनूर (जम्मू) से प्राप्त दो टेराकोटा सिर।
बायें : स्वप्निल आँखों वाली स्त्री। दायें : चिंतन मुद्रा में राजकुमार। एक नगर के खण्डहर से प्राप्त।
७०० से ७२० ईसवी तक।
(फोटो : [illegible])

चित्र २८



बोधिसत्व का गारे से बना चित्रित सिर, अंशतः खण्डित। गान्धार से प्राप्त। आठवीं शताब्दी का आरम्भ।
(फोटो : [illegible], लन्दन)

चित्र २०



शिव और उमा। ऐहोल (जिला बीजापुर) से प्राप्त। आठवीं शताब्दी का आरम्भ। पत्थर।
(फ़ोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र ३१



४८ त्रिमूर्ति शिव, महेशमूर्ति के रूप में। एलिफेंटा की गुफा, बम्बई। आठवीं शताब्दी ईसवी। चट्टान काटकर बनाई गई। अति विशाल।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ३२

इसी समय कुछ अन्य रोमन-यूनानी तत्त्व भी प्रकट हुए हैं। चित्र संख्या १८ में 'उपदेश देते हुए बुद्ध' का बढ़िया उदाहरण देखिए। आकृतियां कहीं अधिक अच्छे अनुपात में ढली हैं। बुद्ध को बहुत सुन्दर रूप में तराशा गया है। वस्त्र उत्कृष्ट हैं। उतना ही रोचक तथ्य यह है कि दोनों कोनों में प्रस्तुत दो आकृतियां भारतीय नहीं, बल्कि मध्य-एशियाई हैं। आदमी एक लम्बा कोट और ढीला पाजामा पहने है। उसके पैरों मे जूते हैं (यह पूरी तरह अभारतीय फैशन है) और उसकी पत्नी (दाहिनी ओर) यूनानी अंगरखा पहने है। अन्य दो व्यक्ति, जो यद्यपि नंगे पैर हैं, परदेशी मालूम पड़ते है। दाहिनी तरफ की लम्बी स्त्री एक टोपी अथवा टोप और यूनानी-रोमन वस्त्र पहने है। भित्ति-स्तम्भ कुछ मिश्रित रोमन कृति जैसे मालूम पड़ते हैं और बुद्ध के सिर पर एक छत्री है जो बिलकुल ही अभारतीय है। चेहरे भी वैसे ही हैं परन्तु संरचना और भाव बहुत-कुछ उसी ढग के हैं जैसे कि दूसरी शताब्दी में भारत के किसी भी अन्य हिस्से में निर्मित किए जाते थे। साथ ही अतीत सबधी यह कल्पना भी मोहक है कि सब प्रकार के विदेशी यहा एक समाज मे हिलमिल गए थे। वे अपनी विदेशी रुचियां भारत में लाए थे, पर कुछ सौ वर्षों में ही वे रुचियां उन भारतीयों के समुद्र में, जिनके साथ वे विवाह-बन्धनों में बध गए, लुप्त हो गई।

इस विचित्र मेलजोल का थोड़ा-सा अनुभव चित्र संख्या १६, 'विदेशियों का विजयोत्सव', की सुन्दर चित्र-वल्लरी में किया जा सकता है। यह एक लम्बी संरचना का हिस्सा है। इसके दूसरे हिस्सों में कितनी ही वेशभूषाएं और स्त्री-पुरुष प्रदर्शित है, जिनमें भारतीय पुजारी, नंगे नर्तक लड़के, घुटे हुए सिरों वाले बौद्ध भिक्षु और बहुत-से मध्य एशियाई शामिल हैं। ये अपनी शांतिमयता, किसी भी अतिरंजना के सुचिंतित परिहार, खाली पृष्ठभूमि में आकृतियों के सतुलित और सामंजस्यपूर्ण क्रम आदि बातों मे क्लासिक की कोटि में आते है। इसमें भी वे ही मूलभूत भाव है जो चित्र संख्या १५-१६ में प्रस्तुत गढ़वा की आकर्षक चित्र-वल्लरी में प्रदर्शित हैं। इस गान्धार चित्र-वल्लरी की केन्द्रीय आकृति लॉरेल के पत्तों का मुकुट ओढ़े एक स्त्री है, जो रोमन वस्त्र पहने है। वह एक टहनी पकड़े है जो ताड़ की टहनी होनी चाहिए। सुदूर दाहिनी ओर हम एक मध्य अथवा पश्चिमी एशियाई व्यक्ति को देखते हैं जो एक चोगा पहने है, जिसे ऊपर कमर तक चढ़ाकर पेटी से बांधा गया है। इस पुरुष के दाढ़ी है, सिर पर लॉरेल की माला बधी है। यह एक मशक लिये है जो शायद शराब से भरी है और यह पैरों में छोटे जूते पहने है। इसके ठीक बाद एक दूसरा दाढ़ी-वाला विदेशी खड़ा है जो एक बड़ा शराब पिलाने का पात्र लिये हुए है। सुदूर बायीं ओर एक और दाढ़ीवाला विदेशी खड़ा है जो शराब की एक बड़ी सुराही लिये है। उसकी बगल में एक आधी ढकी स्त्री खड़ी है जो लॉरेल का मुकुट पहने है। वह उस ज़माने के विशेष पात्र, बांसुरी के आकार के प्याले, से शराब पी रही है। एक ढोलची केन्द्र में खड़ी 'विजय की देवी' (जो शायद यह भूमिका करनेवाली कोई अभिनेत्री है) की ओर मुह किए ढोल बजा रहा है। सयुक्त आयोनियन-कोरिन्थियन शीर्ष की रूपरेखा वाला एक भित्ति-स्तम्भ इस दृश्य को अगले दृश्य से अलग करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें यूनानी तत्त्व विशेष है। लेकिन उतना ही विशेष यह तथ्य भी है कि यहां हमें उसी शैलीगत मनोदशा के दर्शन होते हैं जो गढ़वा की चित्र-वल्लरी में है। जिस मूर्तिकार ने गढवा की चित्र-वल्लरी को तराशा होगा, वह कही अधिक महान कलाकार था और कही अधिक नाजुक सामग्री (बढ़िया दानेदार बलुआ पत्थर, जो सख्त नही होता और जिसकी परतें अक्सर छिटक जाती हैं) पर काम कर रहा था।

गान्धार क्लासिक कला

ईसा की चौथी और पाचवी शताब्दिया गाधार शैली का भी क्लासिक युग हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे भारत के अन्य सभी क्षेत्रों में, जहां यूनानी प्रभाव नहीं पहुंच पाया, वे हैं। यदि चित्र संख्या १६

की संरचना क्लासिक शैली का ठेठ रूप है तो उससे भी श्रेष्ठतर उदाहरण चित्र संख्या २० में प्रस्तुत चौथी शताब्दी की मूर्ति 'बोधिसत्व : एक राजकुमार के रूप में' है। बोधिसत्व वह व्यक्ति होता है जिसकी प्रकृति में ही यह बात निहित हो कि वह बोध अथवा ज्ञान प्राप्त करेगा और बुद्ध अथवा पूर्ण ज्ञानी बनेगा। राजकुमार की उत्कृष्ट आकृति यह बतलाती है कि अपनी सकर प्रकृति के बावजूद गान्धार में महान कलाकृतियों के सृजन की सामर्थ्य थी। हम चित्र संख्या १७ और बाईं ओर के बोधिसत्व (अवतरण करते बुद्ध) पर पुन: दृष्टि-पात करें। ईसा की प्रथम शताब्दी की ये रचनाएं आद्य शैली में तराशी गई हैं। यह एक अनगढ प्रयास है जिसमें बहुत थोड़ी प्रफुल्लता और उससे भी कम सुन्दरता है। इसके और चित्र संख्या १९ के बीच जो तीन सौ अथवा उससे भी अधिक वर्ष गुजरे, उनमें स्पष्ट है कि कलाकारों ने बहुत कुछ सीखा। उनकी रुचियां बदली, ज्ञान बढ़ा, और उन्होंने अपना एक मानदण्ड विकसित किया, जो क्लासिक भावना की सभी मुख्य विशेषताओं, गरिमा, अभिजात्य और उच्च आदर्शों, की अपेक्षा करता है।

चित्र संख्या १९ का बोधिसत्व मानवता का एक बढ़िया और सुस्थिर नमूना है। उसमें कुछ कुलीन तत्त्व हैं। राजकीय वश का राजकुमार होने के कारण वह आभूषण पहने है। उसके सिर पर एक राजकीय पगड़ी है जिसके पीछे चार रिबनों के सिरे प्रभामण्डल के पार तक, जो यूनानी न होकर ठेठ ईरानी आविष्कार है, उड रहे है। मूर्तिकार ने अफगानिस्तान अथवा ईरान के किसी साथी कलाकार से इस प्रभामंडल की नकल की होगी। ईरान की सासानी कला में चौथी शताब्दी में हर कहीं यह प्रभामडल पाया जाता है। वस्त्र आकर्षक और कमनीय है। वे अधिक नही है क्योंकि भारतीय कलाकार शरीर के काफी बड़े हिस्से को अनढका रखना ही पसन्द करता था। (यही कारण है कि बाद के दिनों में बुद्ध के वस्त्रों को इतना बारीक दिखाया जाता था कि आप नीचे का पूरा बदन साफ देख सकते हैं। चोगे से शरीर को पूरा ढकना भारतीय कलाकार के लिए एकदम विदेशी धारणा है।) राजकुमार चप्पलें पहने हैं और यह चीज भी विदेशी है।

शरीर की तराश बहुत दक्षतापूर्वक की गई है। इसमे त्वचा, विशेषकर नाभि के चारों ओर का भाग, बहुत कमनीय दीख पड़ती है। बांहें बहुत उत्कृष्ट है। हाथ सुन्दर हैं। चेहरे पर वह शांति और स्थिरता स्पष्ट है जो भारत की क्लासिक कला का विशेष गुण है। भारत की क्लासिक कला यूनान की क्लासिक कला से नही निकली थी। वहां लगभग दस शताब्दियों पहले, ईसा-पूर्व पांचवीं शताब्दी में, एक विशेष क्लासिक स्थिति प्राप्त हो गई थी। भारतीय क्लासिक कला अपनी निजी, आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर आरम्भिक स्थितियों से चलकर धीमे-धीमे और सश्लिष्ट रूप में एक शैलीगत विकास के पथ पर आगे बढ़ी है।

रीतिवाद के प्रथम चिह्न

छठी शताब्दी के आरम्भ से इस बात के चिह्न प्रकट होने लगे थे कि भारतीय कलाकार अपनी शैली में परिवर्तन ला रहा है। वे पहले विशुद्ध क्लासिक भावना से अत्यन्त सूक्ष्म रूप में भिन्न होते हैं तथा सौंदर्य और आदर्श की क्लासिक धारणाओं को संकोचपूर्वक छोड़ने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन ये भाव जोर पकड़ते जाते है और छठी शताब्दी के मध्य तक एक स्पष्ट रीतिवादी शैली हमें मिलने लगती है, जो अब विशुद्ध क्लासिक नही रही है।

चित्र सख्या २१ में 'तप-साधना करते बोधि-सत्व' का आकर्षक और नाटकीय उत्कीर्णन कला के प्रति ठेठ क्लासिक भाव से अलग हट आने का एक उदाहरण है। न सिर्फ विषय नया और असाधारण है, उसकी वस्तु भी चमत्कारपूर्ण है। राजकुमार गौतम सिद्धार्थ बुद्धत्व की खोज में कुछ समय तक घोर तप का मार्ग अपनाते हैं परन्तु शीघ्र ही दृढ़तापूर्वक और अन्तिम रूप में वह इसे छोड़ भी देते हैं क्योंकि यह स्पष्ट चिन्तन में सहायता नहीं देता। यह जानने की बात है कि उन

दिनों का कोई भी यूनानी मूर्तिकार सामान्यतः ऐसी वस्तु को अपना विषय न बनाता। उसका मन उसके प्रति उसी प्रकार विद्रोह कर उठता जैसे कि ईसा को सूली पर चढ़ाए जाने के विषय को लेकर करता। लेकिन भारतीयों की चिन्तन-पद्धति के लिए यह विचार, कि एक व्यक्ति अपने शरीर को यातना देकर आत्मा की उच्चतर स्थितियों को प्राप्त कर सकता है, एक अद्भुत विचार था। जीवन के उच्चतर लक्ष्यों के लिए सुख और आनंद के बलिदान की यह तत्परता उसके लिए एक प्रेरणाप्रद और उच्च कल्पना थी। जब कि प्राचीन यूनानियों ने सबसे सुन्दर पुरुषों एवं सबसे आकर्षक स्त्रियों को ही दैवी आकृतियों का विषय बनाया, भारतीयों (अथवा ईसाइयों) के लिए इस प्रकार का आत्मबलिदान ही उत्तम और सुन्दर विचार था।

इसमें उपवास करते बोधिसत्व को दुबलेपन की चरम सीमा तक घट आया दिखाया गया है। उसकी बाहें रस्सियों जैसी लगती हैं। पसलियां उभरी हुई हैं। गाल अन्दर बैठ गए हैं और आंखें अपने गढ़ों में गहरी धस गई हैं। वह इतना कमजोर हो गया है कि इच्छा करने के बावजूद अपने सिर को एकदम सीधा नहीं रख पाता। सिर बगल की ओर झुका हुआ है। दाढ़ी भी कितने ही दिनों से बढ़ी हुई है। इसपर भी वह जीवन और मरण और संसार में कष्ट और शोक के कारणों पर गहरे विचार में पूरी तरह डूबा हुआ है।

यहां एक सच्चा यथार्थवाद है जिसका उपयोग एक आदर्श प्रयोजन के लिए किया गया है। इसमें यूनानी तत्वों को ढूढ़ पाना बहुत कठिन है। दूसरी ओर, चकित करने एवं नाटकीयता लाने की स्पष्ट प्रवृत्ति उस क्लासिक शैली से स्पष्ट रूप से दूर हट आई है, जो सामंजस्य, शांति, स्थिरता और संतुलित सौन्दर्य में रस लेती है। निस्सदेह यह रीतिवादी कला का आरम्भ है जिसे क्लासिक कला की उत्कृष्ट कुशलता और अधिकारिता के साथ उत्कीर्ण किया गया है। यहां क्लासिक कला का उपयोग उसकी अपनी सीमाओं से कहीं अधिक रूमानी और कहीं अधिक भावनामय प्रयोजन के लिए किया गया है।

चित्र संख्या २२ में प्रस्तुत तांबे की मूर्ति 'बुद्ध', जो बरमिंघम में है, में भी विशुद्ध क्लासिक शैली से एक सूक्ष्म भिन्नता देखी जा सकती है। यह तांबे की ढलाई से निर्मित उत्कृष्ट रचना है और कला-कृति के रूप में अत्युत्तम है। तथागत की स्थिर एवं अभिजात मुद्रा से एक आश्वस्त प्रवृत्ति प्रकट है। उनका मुख शांति और दया से आप्लावित है। मस्तक समतल है। मुख पर सदा वर्तमान एक हल्की-सी मुस्कान खेल रही है। आश्चर्य की बात यह है कि वे इतने ज्यादा पतले वस्त्र पहने है कि उनके पूरे शरीर की रूप-रेखा वस्त्रों के पार साफ देखी जा सकती है। एक फ्रांसीसी विद्वान ने इसे गीले वस्त्रों का प्रभाव बतलाया है। यह उत्तर-क्लासिक है और विदेशी धारणा त्यागकर मानवीय शरीर को बहुत अधिक वस्त्रों से न ढकने की विशुद्ध भारतीय धारणा की ओर लौटना है। (उस काल के भारत में स्त्री और पुरुष सामान्यतः कमर से ऊपर अनढके ही रहते थे।) इस प्रकार जबकि गरिमामय हाव-भाव, कमनीय चेहरा, नजाकत से तराशे गए हाथ—ये सब उठान और स्थिरता की दृष्टि से विशुद्ध क्लासिक है, वस्त्रों में से शरीर का इतना स्पष्ट प्रदर्शन करने का नाटकीय प्रभाव, एक बार फिर ठेठ क्लासिकवाद से हट आने का चिह्न है। प्रभामण्डल गायब है लेकिन मुझे सन्देह है कि यह भी चित्र संख्या २३ की अगली आकृति अथवा चित्र संख्या २४ के 'रत्नगिरि के बुद्ध' के प्रभामंडलों से एकदम भिन्न नहीं होगा।

अब चित्र संख्या २३ में प्रस्तुत मथुरा (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त 'खड़े हुए बुद्ध' को पांचवीं शताब्दी की 'क्लासिक' कृति कहा गया है। निकट से ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह बात सही नहीं। निस्संदेह, यह विलक्षण आकार में तराशी गई एक उत्कृष्ट कलाकृति है। क्लासिक कलाकार के ज्ञान का इसमें पूरा उपयोग किया गया है, सुन्दर अनुपातों एवं आकर्षक चेहरे को आदर्श रूप देने की क्लासिक परिपाटी में इसे गढ़ा

गया है। यह एक रमणीक शीर्ष है, शांत और गंभीर। इसका माथा ऊंचा है और अभिजात्य के भाव इसमें प्रकट हैं। दूसरी ओर 'गीले वस्त्रों का प्रभाव' भी अत्यन्त विशिष्ट है। (पतले चिपके हुए वस्त्र में पड़े नाड़े के सूत्र तक को साफ देखा जा सकता है।) जो प्रभामंडल ईसा की तीन सौ से पांच सौ तक की क्लासिक शताब्दियों में पूरी तरह सादा था, अब भरावपूर्वक अलंकृत है। बारीक और भरावदार अलंकरण का आकर्षण क्लासिक शैली के लिए तो पूरी तरह अजाना है। कोई सजावट वहां होती ही नहीं अथवा बहुत ही कम होती है (उदाहरण के लिए देखिये चित्र संख्या १२ में 'राजगिरि की नागिन', चित्र संख्या १३ में 'अजन्ता का नागराज', चित्र-संख्या १४ में मामल्लपुरम् की 'दो रानियां', अथवा चित्र संख्या १५-१६ की गढ़वा वाली सुन्दर क्लासिक चित्र-वल्लरियां)। शुद्ध रूप से क्लासिक सभी मूर्तियों में प्रभामंडल या तो सादे हैं या सिरे के साथ-साथ चारों ओर एक पतले-से बार्डर से अधिक अलंकृत नहीं हैं। परन्तु खड़े हुए बुद्ध की इस मथुरा वाली शानदार मूर्ति का प्रभामंडल उत्कृष्ट अलंकरण का एक समूह ही तो है। यह केन्द्र के निकट कमल के पत्तों से आरंभ होता है। सजावटी लेस के फीते पर फीते भगवान के सिर के पीछे के पूरे वृत्त को ढकते चले गए हैं। ये क्लासिक नहीं हैं। यह नवीनताओं और नई उत्फुल्लताओं की रीतिवादी खोज का एक ठेठ उदाहरण है।

'रत्नगिरि के बुद्ध' पूरी तरह रीतिवादी शैली में है। भगवान बुद्ध की जितनी भी मूर्तियां बनाई गई हैं, उनमें चित्र संख्या २४ एक उत्कृष्ट आकृति है और अभी हाल ही में खोदकर निकाली गई है। बुद्ध के यौवनपूर्ण चेहरे पर शान्ति और सौम्यता है। वे ध्यान में डूबे हुए हैं। होंठों के कोनों पर एक हल्की-सी मोठी मुस्कान खेल रही है। विन्यास की दृष्टि से शीर्ष असाधारण है। वह यौवनपूर्ण और मनोरम है। यह तथ्य, कि कलाकार के सामने कुछ भिन्न और कुछ नया लक्ष्य था, स्वयं में रीतिवादी है। वस्त्र स्पष्ट ही इतने बारीक बनाए गए हैं कि उन्हें कठिनाई से ही पहचाना जा सकता है। प्रभामंडल पुनः असाधारण है। गोल होने के स्थान पर वह अंडाकार है। ऊपर कोनों में उड़ती हुई दो परी जैसी नन्हीं आकृतियां (इन दिव्य प्राणियों को 'विद्याधर' कहा जाता है) एकदम नई चीज हैं। ये पुष्पहार ला रही हैं। बोधि-वृक्ष को, जिसके नीचे बैठकर बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था, प्रभामंडल के ऊपर एक शानदार अलंकरण में बदल दिया गया है। सजावट के प्रेम ने मूर्तिकार को एक अत्यंत अलंकृत सिंहासन तराशने पर विवश किया है। उसके पृष्ठ भाग को विचित्र-से दैत्य थामे हुए हैं। पीठ के ऊपर दो काल्पनिक हंस हैं जो अपनी चोंचों में मोतियों के हार पकड़े हैं। इनकी पूंछों के पर बड़े ही कल्पनामय हैं। सिंहासन के नीचे अतिरिक्त सजावटें हैं—सिंह, भित्ति-स्तम्भ और फूलों की कुण्डलियां। क्लासिक कला की सादगी और गम्भीरता यहां गायब हो चुकी है। रीतिवादी कला ने उसका स्थान ले लिया है और उसने जिन नये तत्त्वों से हमारा परिचय कराया है, वे हैं दर्शक को आश्चर्यचकित करना, उत्फुल्ल करना और पुराने विषयों में नवीनता लाना।

सोते हुए देवता से अधिक शान्त और सौम्य विषय और क्या हो सकता है? चित्र संख्या २५ में प्रस्तुत चट्टान काटकर बनाए गए आकर्षक चित्र 'सोये हुए विष्णु' का यही विषय है। यह फलक मद्रास के निकट मामल्लपुरम् की दुर्गा गुफा में है। फिर भी छठी-सातवीं शताब्दियों का रीतिवादी कलाकार इस विषय का चित्रण मात्र करके सन्तुष्ट न रह सका। इसीलिए 'विश्वनाग' की कुण्डली पर लेटे हुए सुप्त विष्णु की आकृति के साथ उसने आकाश में उड़ते दो नन्हे प्राणियों, नीचे तीन एकदम अनावश्यक आकृतियों तथा दाहिनी ओर दो अधिक बड़ी आकृतियों को जोड़ा। इन दो में से एक की अत्यधिक आश्चर्यजनक और नाटकीय मुद्रा है मानो वह अचानक ही पीठ मोड़कर चला जा रहा हो। यह भड़कीली कारीगरी का अच्छा प्रदर्शन है और इसमें एक बिल्कुल अप्रत्याशित गति है। नूतनता

और प्रचण्ड गति रीतिवादी कला की अपनी विशेषता है और यह विशेषता बाद की बारीक कला में अति-कल्पनाशीलता का रूप लेकर प्रस्फुटित हुई है। जब आप इस कलाकृति का मूल्यांकन करते हैं, तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत के रीतिवादियों ने कला की कुछ अत्यधिक प्रशंसनीय और मनोरम कृतियां निर्मित की। इनमें ज्ञान और शिल्प को प्रभावी सौन्दर्य की एक गहरी संवेदना के साथ मिश्रित किया गया है।

यही बात चित्र संख्या २६ में प्रस्तुत, नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय की श्रेष्ठ कृति 'मथुरा के विष्णु' की आकर्षक खड़ी आकृति के बारे में भी सच है। गुलाबी बलुआ पत्थर से तराशी गई इस शानदार मूर्ति में क्लासिक कला के सभी उच्चतम मूल्य, अर्थात् उसका आदर्शीकरण, पूर्णता का प्रयास और दैवी उत्कर्ष की धारणा, निहित हैं। शायद बड़ी-बड़ी आंखें ही एकमात्र तत्व है जो शुद्ध रूप से क्लासिक नहीं हैं (सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के युग में आंखें अधिकाधिक बड़ी होती चली गई)। जब आप इसके प्रचुर आभूषणों पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि यह उत्कृष्ट आकृति विशुद्ध क्लासिक नहीं हो सकती। कोई क्लासिक कलाकार ऐसा प्रचुर और भरावदार अलकरण देकर आकृति की दिव्य सुन्दरता की ओर से दृष्टा का ध्यान नही हटायेगा। इस सजावट के अग हैं: भड़कीला मुकुट, कितने ही सारे हार और भुजबन्द, अलकृत जनेऊ अथवा शान से बल खाता हुआ फूलों का हार जो रूमाल की तरह देवता की दोनों भुजाओं को लपेटे है, तथा कंधों पर पड़े रूमानी छल्लोंवाले बाल। मुकुट सुनार की कला का एक आदर्श नमूना होना चाहिए था और छठी शताब्दी की इस कृति में वह जितना अलकृत है, उतना क्लासिक युगों में भी नही हो सकता था। (चित्र संख्या १३ के 'नागराज' का मुकुट बहुत बड़ा है, पर वह अनिवार्यतः मोतियों और हीरों का एक जमघट मात्र है और विष्णु के इस मुकुट का सा शानदार डिज़ाइन उसमें नहीं है।)

रीतिवादी प्रचुरता

रीतिवादी कलाकार का सजावट की प्रचुरता के प्रति अनुराग व्यक्तिगत मूर्तियों के बदले उच्चित्र-संरचनाओं में ही अधिक अच्छी तरह देखा जा सकता है। दूसरा एक अच्छा उदाहरण है चित्र संख्या २७ में प्रस्तुत देवगढ़ (उत्तर प्रदेश) के दशावतार मंदिर के एक पार्श्व पर खुदा एक विशाल फलक। इसका शीर्षक है 'नर और नारायण'। यहां केवल इन्हीं दो व्यक्तियों को प्रस्तुत करने के बदले आकृतियों का बड़ा जमघट लगा दिया गया है, जिनमें से अनेक बहुत ही सजीव और हलचल से पूर्ण हैं। पूरा का पूरा फलक एक विशेष जीवट और जिन्दादिली से पूर्ण है। दोनों राजकुमार अलग-अलग कोणों पर एक-दूसरे की ओर झुके हुए हैं। प्रत्येक के सिर पर एक विशाल मुकुट है और दोनों ही अपने एक हाथ से इशारे कर रहे हैं। इनकी टांगें भी अलग-अलग ढंग से स्थित हैं। इनके नीचे हिरण बैठे हैं और एक शेर बैठा है, और पीछे से दो छोटे सेवक प्रकट हो रहे हैं। इनके सिरों के ऊपर पांच सुन्दर प्राणी हार लिये आ रहे हैं और इन दोनों राजकुमारों के सिरों पर उन्होंने एक चंदोवा-सा तान रखा है। ये पांचों दिव्य आकृतियां एक सजीव और उत्साहपूर्ण उड़ान भरती दीख रही हैं। केन्द्र में लटकी सुन्दर स्त्री उड़ान भरने का एक उत्कृष्ट अकन है। उसकी टांगें उसके पीछे तैर रही हैं।

और जैसे यह सब काफी न हो, हम इस मूल दृश्य के ऊपर एक दूसरा स्वर्ग उत्कीर्ण पाते हैं, जिसके केन्द्र में त्रिमुख ब्रह्मा ऊपर से इस दृश्य को समर्थन की भावना से देख रहे हैं। अप्सराओं जैसे चार प्राणी पूरे जोर के साथ आकाश को चीरते हुए ब्रह्मा की ओर बढ़ रहे हैं। इनके रूमाल और फीते इनके पीछे लहरा रहे हैं जिससे उड़ान के अत्यधिक गतिमय होने का सकेत मिलता है। इस पूरे गतिमय दृश्य को अत्यन्त अलकृत सजावटों, फूलों के सुन्दर आभूषणों के चौखटे पर चौखटे जड़ कर मढ़ा गया है। सबसे ऊपर की सरदल को दो छोटे

शेर दोनों कोनों पर थामे हैं और बीच में एक और उड़ता हुआ प्राणी है। इस फलक में कुल मिलाकर चौदह से कम आकृतियां नहीं हैं।

तो यह है रीतिवादी कला की विशेषता, जो शिल्प और रुझान में नहीं, तो प्रवृत्ति में क्लासिक कला से मूल रूप में भिन्न है। रमणीयता और आदर्शीकरण चौथी और पांचवीं शताब्दियों के क्लासिक कलाकार की तरह ही रीतिवादी कलाकार के भी प्रमुख भाव हैं पर प्रचुरता और नूतनता की लगन भी धीमे-धीमे उनके ऊपर छाती जा रही है।

क्लासिक की शान्ति और उसकी नितान्त सादगी नये फैशन के पहले शिकार बने। इनका स्थान सजीव उद्विग्नता और उलझन अथवा कम से कम अति भराव के बढ़ते हुए प्रेम ने ले लिया। चित्र में अतिरिक्त आकृतियों को बड़ी ही रुचि के साथ लाया गया है और मानव एवं दिव्य जीव रूमानी दृष्टि से आकर्षक एवं आनन्दप्रद प्राणी बन गये हैं।

विविधता, व्यक्तिवाद और अलंकरण

लगभग ७०० ई० तक रीतिवाद स्पष्ट बारोक शैली में विकसित हो जाता है। आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों में पूरे भारत में एक ही शैली प्रचलित रहती है। यह सम्भवतः देश में अब तक अनुभूत अभिव्यक्ति का तीव्रतम और गहनतम रूप है। पश्चिमी और मध्य यूरोप में (विशेषकर अठारहवीं सदी में) बारोक शैली एक संक्षिप्त और अत्यन्त कृत्रिम कलारूप था, जिसे यूरोपीय कला की उच्चतम अभिव्यक्ति नहीं माना जाएगा। परन्तु सात सौ से ग्यारह सौ ईसवी के बीच के युग में भारतीय बारोक जबरदस्त मन्दिर-निर्माण के रूप में व्यक्त हुआ। लगता है, इसके रूप में भारतीय प्रतिभा ने अपने उच्चतम शिखर का स्पर्श किया। मोहक सौन्दर्य और उत्कृष्ट रमणीयता से पूर्ण हजारों कृतियां इस काल में रची गई। उस युग में बेशुमार उच्चित्र फलकों के निर्माण की ऐसी तीखी लगन थी कि कुछ मन्दिरों की दीवारों पर लगभग एक हजार तक आकृतियां उत्कीर्ण मिलती हैं। इनमें से कितनी ही मूर्तिकला की महान कृतियां हैं जिन्हें सौन्दर्य की संवेदना और आनन्द से पूर्ण होकर तराशा गया है। बनावट और अतिरंजना के इस युग के अन्त में ही, जबकि शैली धीमे-धीमे 'रोकोको' में बदल रही थी, आ पाई। अलंकरण की लगभग एक भोंडी आसक्ति इस नई शैली की विशेषता है।

सात सौ ईसवी के आसपास, जब रीतिवाद में से बारोक विकसित होता है, हम पाते हैं कि पहली उत्कृष्ट कृतियों में रीतिवादी युग की तीन विशिष्टताएं हल्के रूप में व्यक्त हुई हैं। ये हैं— विविधता, व्यक्तिवाद और अलंकरण।

इनमें व्यक्तिवाद सम्भवतः सबसे उल्लेखनीय है, क्योंकि भारतीय कला में यह बहुत ही कम पाया गया है। रीतिवादी कला में विविधता और नयेपन की खोजें पहले ही व्यक्त हो चुकी थीं और कितने ही अध्येताओं ने सजावट के प्रति अत्यधिक प्रेम भी उसमें पाया है, यद्यपि यह बात कि यह बारोक युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, स्पष्टतः अनुभव नहीं की जा सकी है। लेकिन व्यक्तिवाद से तो दरअसल इनकार किया गया है और ऐसे अध्येता भी हैं जो भारतीय कलाकारों को अनाम काम करने वाला ही मानते हैं। वे मानते हैं कि वे अपने लिए निर्मित नियमों पर सदैव और पूरी तरह चलते थे और अपनी कलाकृतियों में किसी भी प्रकार के व्यक्तिवाद अथवा मौलिकता को लाने में असमर्थ थे। संस्कृत में कितनी ही पुस्तकें हैं जिनमें भारतीय देवताओं की मूर्तियां बनाने के लिए नियम निर्धारित कर दिए गए हैं। लेकिन हाल के वर्षों में यह बात अधिकाधिक प्रकाश में आई है कि मूर्तिकारों ने अक्सर इन नियमों की उपेक्षा की है और बहुत स्वच्छन्दता बरती है। भारतीय मूर्तिकला का पूरा इतिहास अनुसरण की धारणा का विरोधी है, और यदि आप इस छोटी-सी पुस्तक में ही बुद्ध की विभिन्न मूर्तियों की आपस में तुलना करें तो आप पाएंगे कि बुद्ध की दो मूर्तियां भी एक जैसी

नहीं हैं। सबमें व्यक्तिवाद है और मौलिकता है, (जैसे चित्र संख्या २४ के बुद्ध के बहुत अधिक भिन्न चेहरे को छोड़ भी दें तो चित्र संख्या १६ के बुद्ध का सिर, उसकी अभिव्यक्ति और चेहरा-मोहरा चित्र संख्या २२ अथवा चित्र संख्या २३ के बुद्ध से बहुत अधिक भिन्न है)।

इन तीन प्रतिनिधि विशिष्टताओं का एक उत्कृष्ट उदाहरण चित्र संख्या २८ में प्रस्तुत जम्मू और काश्मीर राज्य के 'अखनूर नामक स्थान से प्राप्त बुद्ध' में देखा जा सकता है। जम्मू के इस स्थान और काश्मीर में उश्कर नामक ऐसे ही स्थान से निकाली गई पकी मिट्टी (terracotta) की प्रतिमाओं को सात सौ से सात सौ बत्तीस ईसवी के बीच की तिथि दी गई है। इन तीस से ज्यादा टेराकोटा मूर्तियों में कोई भी दो सिर एक समान नहीं हैं। केश-विन्यास में आश्चर्यजनक विविधता है तथा चेहरे के हाव-भाव और अन्य विशिष्टताओं में भी वे व्यक्तिवाद के कारण एक-दूसरे से भिन्न हैं। अखनूर का यह बुद्ध-शीर्ष स्पष्ट ही 'रत्नगिरि के बुद्ध' (चित्र संख्या २४) से स्पष्टतः भिन्न है। इसमें यूनानी अथवा गान्धार शैली का लगभग हर प्रभाव समाप्त हो चुका है और साथ ही इन दो प्राचीन मठ-स्थलों से प्राप्त दूसरे बुद्ध-शीर्षों से भी यह बहुत ज्यादा भिन्न है।

इस बुद्ध-शीर्ष की सबसे आश्चर्यजनक नई चीज—एक तत्व जो अब तक कभी हमारे सामने नहीं आया था—बालों में लगा एक हीरों-जड़ा केशबन्ध है। यह आभूषण बहुत आश्चर्य में डालनेवाला है, क्योंकि सब जानते हैं कि बुद्ध ने शान-शौकत, अहंकार और वैभव का त्याग कर दिया था। यह तथ्य है कि सौ अथवा दो सौ वर्ष पहले क्लासिक युग में हर भारतीय और हर बौद्ध ने बुद्ध-शीर्ष पर हीरों-जड़े आभूषण का लगाया जाना बेहूदा ही माना होता और उसे बुद्ध के आदर्शों का नितान्त निषेध ही समझा होता। लेकिन यह अश्रुतपूर्व नवीनता सिर्फ एक आरम्भ है। उश्कर से प्राप्त बुद्ध की एक और टेराकोटा मूर्ति भिक्षु के वस्त्रों के ऊपर मोतियों का हार पहने है और इनमें दो और सिर ऐसे पाए गए हैं जिनके बालों में हीरे-जड़े आभूषण लगे हैं। बारोक कलाकार व्यक्तिगत अलंकरण और हीरे-जवाहरात का इतना शौकीन है कि वह बुद्ध की मूर्ति को भी इनके बिना सहन नहीं कर सकता। जैसे-जैसे समय बीतता गया, बुद्ध की मूर्तियों को अधिकाधिक आभूषण पहनाए गए। ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में बंगाल से प्राप्त पाल वंश की मूर्तियों (देखिए, चित्र संख्या ४८) तक पहुंचते-पहुंचते सब बुद्ध-आकृतियां लम्बे मुकुट, अनेक हार, कुण्डल और कड़े पहनने लगी थीं। इस असंगति से यह अच्छी तरह स्पष्ट है कि शैली, फैशन और रुचि को पुरोहितीय ज्ञान के नियमों एवं कानूनों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा था। मूर्तिकार अब धार्मिक लीकों की उपेक्षा करता है और सामाजिक फैशन का अनुसरण करता है।

विविधता और व्यक्तिवाद के इस प्रेम को दिखाने के लिए इस शैली के दो और उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं: 'अखनूर के दो टेराकोटा-शीर्ष' (चित्र संख्या २९)। दोनों रूमानी, मोहक और मौलिकता से पूर्ण हैं। मैंने बायीं ओर की लड़की को 'सपनीली आंखों वाली महिला' और दायीं ओर के पुरुष को 'उदास चेहरे वाला राजकुमार' कहा है। महिला के होंठ और आंखें पूरी तरह व्यक्तिवादी हैं, यहां तक कि वे रूप-चित्र (portraiture) का संकेत देती हैं। उसके केश-विन्यास की पूरी भारतीय कला में कहीं भी समानता नहीं है। इस संग्रह के हर स्त्री-शीर्ष का केश-विन्यास भिन्न है, यहां तक कि 'उदास चेहरे वाले राजकुमार' के सिर पर भी एक विचित्र प्रकार की बुनी हुई जालीदार टोपी है जिसके नीचे से उसकी कुछ घुंघराली लटें रूमानी फैशन में नीचे बिखर रही हैं। जहां तक मेरा ज्ञान है, भारतीय कला के पूरे इतिहास में अब तक प्राप्त मूर्तियों में ऐसी जालीदार टोपी पहने कोई मूर्ति नहीं पाई गई है। मौलिकता, नूतनता, विस्मयकारी प्रभाव—ये ऐसे विशिष्ट साधन हैं, जिनके माध्यम से बारोक कलाकार अपने आदर्श को व्यक्त करता है। इनकी कलात्मक कुशलता

उत्कृष्ट है और दोनों सिर एक विलक्षण यद्यपि रूमानी विशिष्टता से युक्त कलाकृतियां हैं।

इस समय गान्धार कला में क्या हो रहा था? आठ सौ ईसवी तक यूनानी कला उतनी ही बारोक बन चुकी थी जितनी कि भारत के किसी भी अन्य प्रदेश की कला। यूनानी प्रभाव के कुछ अन्तिम चिह्न अब भी पाए जाते हैं—और यह ऐसा समय था जबकि रोम और बाइज़ेण्टाइन साम्राज्यों में कहीं भी यूनानी कला बाकी नहीं बची थी। दोनों साम्राज्यों में आरम्भिक क्रिश्चियन कला को रूप दिया जा रहा था, और यह शैली, सभी वर्णों के बौद्धों की मिश्रित आबादी वाले भारत के इस छोटे-से विचित्र कोने की शैली से, बहुत भिन्न थी। इस शैली का एक रमणीक उदाहरण चित्र संख्या ३० में प्रस्तुत है—'बोधिसत्व का चित्रित गच शीर्ष'। उस समय तक पत्थर को तराशना छोड़ा जा चुका था। सातवीं शताब्दी से आगे की सभी गान्धार मूर्तियां गच अर्थात् बहुत बारीकी से ढाले जा सकने वाले एक प्रकार के ठण्डे प्लास्टर से निर्मित की गई हैं। यह सुन्दर और रूमानी आकृति दरअसल इतनी नाज़ुक और सलोनी है कि पहली नजर में कोई भी इसे स्त्री-शीर्ष ही समझ सकता है। लेकिन ऊपर के ओठ पर मूछें बहुत साफ चित्रित हैं और हल्की नीली आंखों को भी अनुरंजित किया गया है। विशाल और ऊंचा सुसज्जित शिरोवस्त्र भी चित्रित किया गया है और उसमें सोने के काम के चिह्न हैं। केशबन्ध से ऊपर उठा सोने का एक बड़ा आभूषण स्पष्ट दीख पड़ता है और इससे बधे फीते बाये और दाये बिखरकर लहरा रहे हैं। बालों को अनेक लहरियों में जमाया गया है और कानों से बहुत बड़े सोने के कुण्डल लटक रहे हैं। इस मूर्ति में अन्य कितनी ही मूर्तियों की तरह, क्लासिक गरिमा, सरलता और कठोर संयम प्रमुख लक्ष्य न होकर, सौन्दर्य और आकर्षण ही प्रधान है। हाव-भाव, सौन्दर्य और रूमानियत अब सबसे ऊपर है। आप कह सकते हैं कि बारोक कलाकार अपने दिल को अपनी हथेली पर रखता है, जबकि क्लासिक कलाकार उसे भीतर छुपाए रहता था।

बारोक प्रचुरता

बारोक कला की सच्ची विशेषताओं को अलग अलग शीर्षों में नहीं, बल्कि बड़े फलकों में ही सर्वोत्तम रूप में देखा और परखा जा सकता है।

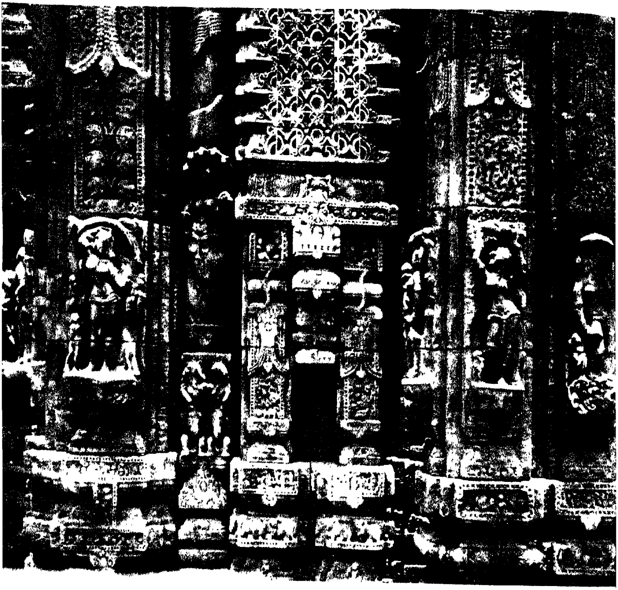
चित्र संख्या ३१ में प्रस्तुत उत्साहपूर्ण दृश्य पत्थर का एक उत्कीर्ण फलक है जिसमें 'उमा और शिव' (ईसा की आठवीं शताब्दी का आरम्भ) को दिखाया गया है। यह फलक अनेकानेक बढ़िया मंदिरों वाले और इस दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न मैसूर राज्य के एहोल नामक स्थान से प्राप्त सैकड़ों मूर्तियों में से एक है। (यह फलक अब बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय में है।)

इसकी केन्द्रीय सरचना मूलतः वैसी ही है जैसी कि चित्र सख्या १३ में 'नागराज और उसकी रानी' शीर्षक क्लासिक फलक की है। लेकिन उस फलक में तो बस राजा और उसकी रानी और एक सेविका प्रदर्शित की गई थी, जबकि इस प्रेमी-युगल देवी-देवता को बारोक शैली की कहीं अधिक भरावदार प्रचुरता के बीच दिखाया गया है। वे नदी पर बैठे हैं और बड़ी संख्या में उपस्थित विचित्र प्रकार के प्राणियों से घिरे हैं। स्वयं शिव ने चार बांहें प्राप्त कर ली हैं। यह कई गुना करके पेश करने में रस लेने की बारोक वृत्ति का एक ठेठ फल है। शिव के सिर और कन्धों के ऊपर माला लिये एक विद्याधर प्रखर गति के साथ तैर रहा है। वहीं तीन अन्य उड़ते हुए विचित्र-से संन्यासी भी अधर में लटके हैं और सबके सब सजीव मुद्राओं में है। देवता और देवी के नीचे दूसरे चुने हुए नमूने हैं, कुछ असाधारण-से प्राणी, जिनमें हर एक अजीब है, सामान्य से अलग है और चमत्कारपूर्ण है (ये हैं बौने प्रेत अथवा पिशाच जो अंग्रेज़ी की लोक-कथाओं की उदार भूतनियों के समान है)। इस फलक में वस्तुतः सभी कुछ सजीव और चुस्त है। शिव के विशाल मुकुट में, उनके और उनकी पत्नी द्वारा पहने जाने वाले अनेक गहनों में, उमा के आकर्षक शिरोवस्त्र में, संन्यासियों की वेशभूषाओं में, तथा पूरे फलक पर जड़े चौखटों



मुस्कराती हुई योगिनी। पत्थर। हीरापुर (उड़ीसा) के चौंसठ योगिनियों के मन्दिर से। नवीं शताब्दी। ४८
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र २२



भुवनेश्वर (उड़ीसा) के मुक्तेश्वर मन्दिर की मुहार का लगभग ९०० ईस्वी।
(फोटो : वाल्म फागर्म)

चित्र ३४



देवी पार्वती। कांसे की मूर्ति (लगभग तीन फुट ऊँची) लगभग १०१० ईसवी।
(फोटो : राजकीय संग्रहालय, एग्मोर, मद्रास)

चित्र २५



२६ भुवनेश्वर ([illegible]) में राजारानी मन्दिर [illegible] [illegible] [illegible] पत्थर। लगभग १००० ईसवी। (फोटो: [illegible])

चित्र २६



दो सुरसुन्दरियाँ। भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर की एक खिड़की पर खड़ी आकृतियाँ। पत्थर। लगभग १०५० ईसवी। (फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ३७



५८

भुवनेश्वर (उड़ीसा) के लिंगराज मन्दिर की मीनार। लगभग १०५० ईसवी।
(फोटो: चार्ल्स फाबरी)

चित्र ५८



दर्पण में देखती बाला और एक विलक्षण पशु। खजुराहो (मध्य प्रदेश) के लक्ष्मण मन्दिर से। २६
लगभग १००० ईसवी। (फोटो: चार्ल्स फाबरी)

चित्र २६



६० खजुराहो (मध्य प्रदेश) । से प्राप्त पुरुष का धड़ । पत्थर । लगभग १००० ईसवी ।
(फोटो : चार्ल्स फाब्री)

के सुन्दर लता-वल्लरियों वाले डिजाइन में भराव और प्रचुरता दीख पड़ती है।

बारोक सुन्दर आकारों में बहुत रस लेती है और उपरोक्त फलक पर उसी रस के साथ एक नाजुक और संवेदनापूर्ण रूमानी दृश्य अंकित किया गया है। चित्र संख्या ३२ में एलिफेण्टा (बम्बई के निकट एक द्वीप) पर महेश-मूर्ति के रूप में शानदार शिव बारोक के एक और मूल तत्व को प्रदर्शित करता है। यह तत्व है प्रभावशाली महाकाय मूर्ति-निर्माण में अनुराग। क्लासिक युगों में ऐसी विशालकाय आकृतियां किसी ने नहीं तराशी। इसका कोई अपवाद जानकारी में नही है। आकार तब ऐसा कोई तत्व नही था जिससे कलाकार आपको अभिभूत करना अथवा झुकाना चाहता। लेकिन यह त्रिमूर्ति देवता शिव अपने तिहरे मुखों के साथ इतना महाकाय है कि जब आप इसके सामने खड़े होते हैं तो इसके कुंडलों तक ही पहुंच पाते हैं। मुकुट ही मनुष्य की ऊचाई से कही अधिक ऊंचा है। एक असिताश्म (basalt) पहाड़ी के गर्भ में ठोस चट्टान को काटकर बनाए गए मद्धिम रोशनी वाले गुफा-मदिर की तली में स्थित यह अद्भुत मूर्ति बारोक युग की ही कृति हो सकती है। इस पर असामान्य होने का, नाटकीयता का और अद्भुत का प्रेम हावी है। इसे शानदार ढंग से तराशा गया है। शिव का चेहरा सवेदनापूर्ण और सुन्दर है। आंखे ध्यान-मुद्रा में बंद हैं। चेहरे पर मद मुस्कान है, यहां तक कि विनाशक शिव का चेहरा (बायां चेहरा) भी, जिसके सिर पर अलग मुकुट है, उदारतापूर्वक तराशा गया है। विशाल मुकुट की भरावदार सजावट, विशाल कुडलों और शानदार हारों पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है। इनका गहरा अध्ययन किया जाना चाहिए। यहां जटिल पर सुगठित आकारों के आभूषणों में बारोक रुचि प्रदर्शित है। और यह सब बम्बई बन्दरगाह के एक छोटे-से द्वीप की सख्त 'पोरफाइरी' चट्टान को काटकर तराशा गया है।

ईसा की नवीं शताब्दी के मध्य बारोक कला का एक दूसरा तत्व सामने आया। वह है स्त्रियों की सुकुमार आकृति में एक ऐन्द्रिक रस। इन दिनों एक पूरा सम्प्रदाय ही विकसित हो उठा था, जिसे तन्त्र अथवा तान्त्रिक कहा गया है। यूनान के सुरादेव सबंधी (Bacchic) धर्म से इसकी बहुत समानता है। यह सुन्दर स्त्रियों की अधिकायिक मूर्तियों में व्यक्त हुआ है। इनमें से एक सम्प्रदाय ने चौंसठ योगिनियों को समर्पित मदिरों का निर्माण कराया (योगिनियां स्त्री-उपदेवियां हैं जो अपने भक्तों को अकथनीय शारीरिक आनंद भोगने के लिए जादुई शक्तियां प्रदान करती हैं— जिनमें एक है, पूरी तरह नग्न रूप में हवा में उड़ना)। इनमें से कुछ मंदिर सपूर्ण भारत के सर्वोत्तम मंदिरों में गिने जाते हैं। उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर से थोड़ी दूर पर स्थित हीरापुर गांव का आकर्षक छोटा-सा गोल मदिर ऐसा ही एक मंदिर है। यहां देवायतन के भीतर बड़ी विविधता के साथ चौंसठ योगिनियों को तराशा गया है। इनमें से कई बहुत गतिमय हैं। पशुओं के सिर वाली कुछ स्त्रियों के सिवा सभी स्त्रियां सुन्दर हैं। बाहरी दीवार पर छतरियों के नीचे सुन्दरी स्त्रियों की कुछ प्रतिमाएं हैं, जिनमें चित्र संख्या ३३ की 'मुसकराती हुई योगिनी' (नवीं शताब्दी) एक है। यह एक यौवनपूर्ण सुन्दर आकृति है। इसकी मुसकान मोहक है। बालों का एक विशाल गुच्छ हीरे-मोतियों से भरा है। यह एक छोटी और मधुर-मधुर मुसकाती लड़की के सिर पर खड़ी है। यह सिर भी घने बालों से ढका है। दो छोटे पशु, जो शायद कुत्ते हैं, देवी की ओर देख रहे हैं। एक छोटा-सा सेवक एक लम्बी छडी वाली छतरी को (देवता अथवा राज की शक्ति की प्रतीक) देवी के सिर पर ताने है। अपने बायें हाथ में वह स्वयं एक प्याला थामे है, जो शायद शराब से भरा है, क्योंकि तान्त्रिकों के उत्सवों में शराब पी जाती थी। उसके दाहिने हाथ में शायद एक टेढ़ी तलवार थमी है। उसका शरीर लगभग पूरी तरह उघड़ा हुआ है। सिर्फ कमर पर वह कपड़े का एक छोटा टुकड़ा लपेटे है। लेकिन तगड़ियों, कंगनों, भुजबन्धों, हारों, कुडलों और बालों के गहनों के गुच्छे

वह पहने हुए है। कला की यह एक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण कृति है जिसे आकर्षक स्त्रियों में बारोक की विशिष्ट रुचि के अनुसार अद्वितीय सौन्दर्य और गरिमा के साथ तराशा गया है।

सजावट और अलंकरण

चौंसठ योगिनियों के मंदिर की दीवार सुन्दर स्त्रियों से भरी है। लेकिन ६०० ईसवी तक दीवार की सादगी का स्थान असीम सजावट ले लेती है, यहां तक की मंदिरों की दीवारें अलंकरणों के विशाल जंगल नजर आने लगती हैं। फूल, बेल-बूटे, ज्यामितीय डिजाइन मुहार की एक-एक इंच जगह को भर लेते हैं। इस भीड़-भाड़ में देवताओं और देवियों की मूर्तियां लगभग गायब हो जाती हैं। लेकिन 'अलंकरणों के इन जंगलों' में सुन्दरियां हर कहीं नजर आती हैं। लगता है, जैसे वे पेड़ों और लताओं से उग आई हों और स्वयं भी फूल और अंगूर की लताए हों। अक्सर वे फूलों के अलंकरणों पर खड़ी और पेडों की शाखाओं से लिपटी रहती हैं। असल में तो बहुत हद तक वे वही पुरानी वन-देवियां और अप्सराएं हैं और पेड़ों और झाडियों में रहकर उन्हें कुसुमित करने वाली आत्माएं हैं। यह एक विश्वास है जो आज भी भारत के कितने ही हिस्सों में विद्यमान है। उन्हें पहले के नमूनों से अलग करने वाली वस्तु यह है कि इस बारोक युग में वे बहुत ही सुन्दर बालाएं बन गई हैं। इनमें अधिकतर बहुत कम वस्त्र पहने (लगभग नगी) है और कभी-कभी बिल्कुल ही निर्वस्त्र हैं।

ऐसी ही एक शानदार बारोक शैली की दीवार भुवनेश्वर (उड़ीसा) की 'मुक्तेश्वर मंदिर की मुहार' है जो चित्र संख्या ३४ में प्रदर्शित है। पहले के मंदिरों की सीधी-सादी दीवार का स्थान अब आम तौर पर अनेक पहलुओ और कोणों वाली दीवार ने ले लिया है। वह बड़ी विविधता वाले अलंकरणों से, विशेषकर फूलों से, ढकी है। भित्ति-स्तम्भ और पीठिकाएं सभी फूलों से भरी हैं और इन फूलों में से सुन्दर बालाएं उभरती हैं, जो इस अत्यन्त सजी-धजी दीवार पर जहां-तहां बिखरी हैं। इन बालाओं (संस्कृत में इनका ठीक नाम 'सुन्दरी' है) के अगणित विविध रूप हैं। तिरछी-आड़ी मुद्राओं और बारोक भाव-स्थितियों में ये पेड़ों की शाखाएं पकड़े हैं या अपने लहराते सर्पिल शरीरों के द्वारा जता रही हैं कि ये नागिनियां हैं। इनमें सभी किस्मों की जल-परियां अर्थात् पानी में रहने वाली उप-देवियां भी हैं। इस पूरी दीवार पर एक भी मूर्ति सम्प्रदाय से संबंधित नहीं है। बीच में स्थित छोटे-से गौखे में कोई मूर्ति शायद रही होगी, पर अब यह गौखा खाली है। इस सम्भावित एक-मात्र धार्मिक मूर्ति के समक्ष दीवार के इस भाग में नौ आकर्षक बालाएं हैं जो सभी बडी सुन्दरता से तराशी गई हैं। इनमें कुछ वन-देवियां और कुछ उनकी सेविकाए हैं, और ये सभी छोटे रूप में उत्कीर्ण हैं। इनमें अधिकतर विविध नृत्य-मुद्राओं में खड़ी हैं। एक अपने उठे हुए पैर से एक पेड को छू रही है। पुरानी मान्यता के अनुसार सुन्दर लड़की के पैर से छुआ जाते ही पेड खिल उठता है। इस सुसज्जित दीवार का वैभव और सौन्दर्य बारोक शिल्पियों की योग्यता का एक अद्वितीय प्रमाण है। इस मंदिर की तिथि ६०० ईसवी के लगभग मानी गई है।

पिछले अनुच्छेद में मैंने 'नृत्य-मुद्रा' का जिक्र किया है। पूरी भारतीय कला में आरंभिक युगों से ही नृत्य-कला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व रही है और शायद ससार के किसी और देश में मूर्तिकला और चित्रकला में उसे उतना शामिल नहीं किया गया, जितना कि भारत में। नृत्य करती बालाओं और दिव्य नर्तकों या अप्सराओं के नृत्य-दृश्य ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक में चित्रित किए गए है। भरहुत के बौद्ध स्तूप के जंगले पर (चित्र सख्या ६) भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि के जैन गुफा-मंदिरों में, और प्रायः सभी मंदिरों की दीवारों पर हर कही ये पाए जाते हैं। अजन्ता के प्रसिद्ध भित्ति-चित्रों, उड़ीसा के अनगिनत मदिरों तथा दक्षिण भारत के देवायतनों में भी ये मिलते हैं।

दक्षिण भारत में, जहां उत्तरी भारत की अपेक्षा

तांबे की ढलाई का काम अधिक विकसित हुआ प्रतीत होता है, तांबे को सबसे सुन्दर आकृतियां वे हैं जिनमें नृत्य की गति अचानक एक जगह रोककर पुरुषों और स्त्रियों की विशेष मुद्राओं को सांचे में ढाल दिया गया है। इसका उदाहरण है शिव की तांबे की सुप्रसिद्ध आकृतियां। शिव को 'नटराज' अथवा नृत्य का देवता भी कहा जाता है। चित्र संख्या ३५ की देवी पार्वती भी ऐसी ही है जिसे १०१० ईसवी के आस-पास तांबे में ढाला गया था। महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि यह मूर्ति एक विशेष देवी की है, क्योंकि आकर्षक नृत्य-मुद्राओं में सुन्दर स्त्रियों की और भी कितनी ही मूर्तियां प्राप्त हैं जो किसी दिव्य प्राणी की नहीं, बल्कि रानियों की हैं जिन्हें उनके नामों से निर्देशित किया गया है। ये सभी लगभग निर्वस्त्र हैं और अपनी नृत्य-मुद्राओं में समान रूप से मोहक हैं। इन मुद्राओं में बांहों का सुन्दर अन्दाज, जिसकी ओर ये नर्तकियां विशेष ध्यान देती थीं, बहुत ही शानदार है।

ऐसी है ऐन्द्रिक रूप में आकर्षक यह स्त्री-आकृति। इसका मुकुट लम्बा और जटिल ढंग से निर्मित है। यह प्रचुर मात्रा में बारीक आभूषण पहने है। इसकी नाक लम्बी और अभिजात है। कमर पतली है। स्तन गोल और भरे हुए हैं। यह हाथ और उंगलियों की कोमल और अभिव्यंजक मुद्राओं में से एक को प्रदर्शित कर रही है जिनके लिए भारतीय क्लासिक नर्तक प्रसिद्ध हैं। यह वस्तुतः भारतीय बारीक कला की विशिष्ट सुन्दरता का एक उत्तम उदाहरण है। पश्चिमी बारीक कला में (उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी कलाकार बूशे या फ्रागोनार के चित्रों में) स्त्रियों को मधुर सम्मोहक प्राणियों, शायद आदर्शीकृत भेड़ें चराने वालियों या लहराते पर सब कुछ दरसाते बारीक कपड़ों में सजी नाजुक अभिजात महिलाओं, के रूप में तो चित्रित किया गया है, लेकिन ये सब कलात्मक कौशल की उस पूर्णता को नहीं पहुंच पाती जिसे भारतीय कला ने इस युग में प्राप्त किया है। ये बहुत अधिक कृत्रिम एवं कल्पित हैं। भारत में निर्वस्त्रता बहुत स्वाभाविक है, विशेषकर इसलिए क्योंकि प्राचीन भारत में कोई भी स्त्री (विदेशी प्रभाव वाले गान्धार के सिवाय) ऊपर के वस्त्र नहीं पहनती थी। आकर्षक एवं गरिमामय नृत्य-मुद्रा भी यहां अत्यन्त सरलता से प्राप्त हो जाती है, क्योंकि दैनिक जीवन में, धार्मिक अनुष्ठानों और उत्सवों में नृत्य का लोगों के लिए बड़ा भारी महत्त्व रहा है। इस देश की अधिकांश बारीक कला-शैली ऐसे अलौकिक रूप से सुन्दर होने का यह एक कारण है।

ये गुण, कलात्मक प्रतिभा की यह पूर्णता उड़ीसा में भुवनेश्वर के अविश्वसनीय रूप से सुंदर 'राजरानी मंदिर के मुहार' (चित्र सं० ३६) पर बहुत अच्छी तरह प्रदर्शित हैं। कलात्मक कुशलता और सजावटी प्रचुरता का यह स्मारक, जो लगभग १००० ईसवी में पूरा किया गया, ललित और आकर्षक अलंकरणों से ढकी सुन्दर आकृतियों के अद्भुत रूप में क्रमबद्ध संयोजनों का एक स्मारक है। यह फूलों का एक जंगल है, जिसमें सुन्दर स्त्री-आकृतियां मानो उगती हैं। ये आकृतियां पेड़ों और फूलों की देवियां, सजीव वृक्ष-आत्माएं, जल-आत्माएं, कमलों से उत्पन्न जलपरियां, लताओं से लिपटी और पत्तों के मुकुटों के नीचे छुपी अप्सराएं हैं। ये सभी अत्यन्त आकर्षक और मोहक मुद्राओं में हैं।

यहां साम्प्रदायिक मूर्ति केवल एक है। वह है केन्द्र में बनी सुन्दर देवता वरुण की मूर्ति। शेष सब मधुर रूप में आकर्षक दर्जनों स्त्रियां हैं, जो पूरे मुहार पर छाई हैं और अपने पतले, बल खाते शरीरों तथा अपनी रमणीक और आकर्षक मुद्राओं से दर्शकों को आनन्द देती हैं। धर्म से इसका कुछ-न-कुछ संबंध है ही। ये वनदेवियां, जलदेवियां, पवन-परियां आदि आख्यानों, मिथकों एवं लोक-कथाओं की प्रकृति-आत्माएं हैं। परन्तु इन्हें पूरी तरह धर्म से प्रेरित मानना एकदम गलत होगा। ये उन महान शिल्पियों की कृतियां हैं जिनका प्रमुख प्रयोजन था सौन्दर्य की रचना करना, सुन्दर मूर्तियों को तराशना, और दर्शकों की आंखों को वही उल्लास देना,

जो सुन्दर आकृतियों को देखकर वे स्वयं महसूस करते थे। व्यापक दृष्टि से सोचें तो अन्य कलाकृतियों की तरह ये भी प्रचलित रुचि का ही परिणाम हैं। ग्यारहवी शताब्दी में भारत के संस्कृत समाज की मांग थी आकर्षण, शोभा और सजावट से युक्त कलाकृतियां। हर समाज अपने मूल्यों के अनुकूल कला को ही प्राप्त करता है। आदिम समाज आदिम कला का सृजन करते हैं, संस्कृत युगों में संस्कृत कला पनपती है, और अन्य युगों में भी इसी प्रकार होता है।

शोभा और आकर्षण

भारत में बारीक की विशिष्टता यह है कि इन बालाओं को संस्कृत में 'अलस कन्याए' नाम दिया गया है। निश्चय ही यह धारणा अधिक दुनियादारी से पूर्ण है जिसमें उनकी मूल वनदेवी प्रकृति लुप्त हो गई है।

चित्र संख्या ३७ में प्रस्तुत भुवनेश्वर (उड़ीसा) के लिंगराज मन्दिर की एक खिड़की में 'दो सुन्दरियां' शीर्षक आकृति है। ऐसे कितने ही स्त्री-आकृतियों के उत्कीर्णन खम्भों के रूप में व्यवहृत आकृतियां हैं। इनमें से पांच सीधी छड़ों का काम दे रही है। खड़ी आकृतियों के जोड़ों को अलग करने वाली लम्बी दरारों में से होकर हवा और रोशनी मंदिर के कक्ष में आ रही है। पेड़ और पत्ते अब भी वहां हैं पर उनका महत्त्व घट गया है और पूरा का पूरा ध्यान ललित स्त्री-आकृतियों की सुन्दरता पर ही जाता है। उपरोक्त दो में एक, बायीं ओर वाली, अपने को सीधा ताने खड़ी है और मुसकरा रही है। दायीं ओर की आकृति नीचे को ओर देख रही है और मुसकरा रही है। यहां यह याद रखना चाहिए कि यह पत्थर, जो ९०० वर्षों की धूप और वर्षा को सहकर खुरदुरा हो गया है, कभी चिकने और चित्रित पलस्तर की पर्त देकर समतल किया जाता था।

अब हम यह जान गये हैं कि झांसी के निकट मध्य प्रदेश राज्य के खजुराहो में, तांत्रिक विधियों के आधार पर, जिनका जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूं, बहुत कुछ निर्मित किया गया था। खजुराहो जाने वाले लोग आलिंगित स्त्री-पुरुषों की अनेक मूर्तियां देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। लेकिन यह उस विशेष धार्मिक सम्प्रदाय का केवल एक पक्ष था जो इस बात का उत्कट विश्वासी था कि सभी प्रकार के आनन्दों से पूर्ण यह पार्थिव अस्तित्व उपभोग का जो भी मौका दे, उसे झपटकर पकड़ लेना चाहिए। इन सैकड़ों मूर्तियों तथा इस युग की अन्य सभी मूर्तियों में प्रमुखतम महत्त्व का तथ्य यह है कि इन मूर्तिकारों का लक्ष्य रहा है स्त्री और पुरुष दोनों आकृतियों की चारूता और सुन्दरता को उभारना और उसे मूर्त्त करना। उत्कीर्णन प्रायः सर्वत्र शानदार हैं और मानवीय आकृतियों के आकर्षणों को रस लेकर उभारा गया है। अक्सर सोने और चांदी की धातुओं और सख्त हीरों से बने आभूषणों के कड़ेपन को कोमल शरीर के मुकाबले में रखकर शरीर की कोमलता को और भी अधिक बढ़ा दिया गया है। जिस प्रकार अधिकांश पश्चिमी कला में चित्रकारों और मूर्तिकारों ने शरीर की सुन्दरता में रस लिया है, उसी प्रकार इन डेढ़ सौ अथवा दो सौ सालों के इस युग में भी भारतीय कला ने अनावृत मानवीय आकृतियों की शोभा, लोच और आकर्षणों में विशेष रुचि ली है।

इन दो सम्मोहक आकृतियों को इस पूरी रूप-रेखा के एक हिस्से के रूप में देखना रुचिकर लगता है। चित्र संख्या ३८ में मैंने इसीलिए भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर के मुहार का एक बड़ा हिस्सा दिया है। इस हिस्से का फोटो बहुत ही कम लिया गया है क्योंकि इस हिस्से में अहिन्दुओं को नहीं आने दिया जाता, और शायद छपा तो यह कभी भी नहीं है क्योंकि इस हिस्से में यह मन्दिर १०५० ईसवी से ही अत्यन्त पवित्र माना जाता रहा है और इसमें अभी तक पूजा की जाती है। इसकी तुलना यूरोपीय नगरों के बड़े गिरजाघरों से की जा सकती है। भुवनेश्वर का यह सबसे बड़ा मंदिर है। इसकी लाट नगर के मंदिरों में सबसे ऊंची है। इसका आकार बड़ा शानदार है और यह स्थापत्य-कला का एक आश्चर्य ही है। साथ ही यह

ग्यारहवीं शताब्दी के चलन, प्रचुर और भरावदार अलंकरण का एक मुखर स्मारक भी है, हर पत्थर की कोर फूलों तथा ज्यामितीय अलंकरणों से सजी है। अलंकरणों की अन्तहीन कतार सैकड़ों की सख्या में निर्मित छोटे-छोटे गौखों में स्थापित मूर्तियों के द्वारा भंग होती है। जैसा कि इस चित्र से प्रकट है, इन आकृतियों में मुख्य रूप से एक-दूसरे से प्रेम के चोचले करते ललित स्त्री-पुरुष शामिल हैं, लेकिन धर्म-गुरुओं और उपदेशकों तथा श्रोताओं-शिष्यों एवं विद्यार्थियों के पंक्तिबद्ध समूहों के दृश्य भी यहां हैं। चित्र संख्या ३८ के इस हिस्से में एक भी दैवी आकृति नही है (गदा पकड़े बैठी आकृति लकुलीश की हो सकती है)। मंदिर की मुहार के दूसरे हिस्सों में देवताओं और देवियों के कुछ उत्कीर्णन हैं अवश्य पर यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ विद्वानों की यह धारणा, कि पूरी भारतीय मूर्तिकला धर्मपरक है, प्रस्तुत साक्ष्य से एकदम प्रमाणित नही होती। यह पूरी दीवार पार्थिव सत्ता के सौन्दर्य, शोभा, आकर्षण एव उनके उपयोग में कलाकार के रस की घोषणा करती है। अलंकरणों की बारीकी और कोमलता आश्चर्य में डालने वाली है।

मध्य प्रदेश राज्य में खजुराहो दूसरा प्रसिद्ध स्थल है जहां भारत के कितने ही अत्यन्त उत्कृष्ट मंदिर एकत्र है। लगता है, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के कलाकार मात्र अलकरण की अपेक्षा मानवीय आकृति की शोभा में कही अधिक रस लेते थे। एक राज्य से दूसरे राज्य में मिलनेवाले स्थानीय अन्तरों का यह मतलब नहीं कि प्रचलित बारीक शैली से हट आया गया हो, इसका अर्थ यही है कि किसी ने एक की अपेक्षा दूसरे पक्ष पर ज़्यादा जोर दिया है।

यह बात यहां प्रस्तुत खजुराहो के चार उदाहरणों से बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। चित्र सख्या ३९ में है 'दर्पण देखती बाला' (यह चित्र यहां के अनेकों मंदिरों में से एक, लक्ष्मण मंदिर में से लिया गया है)। यह एक 'अलस बाला' है। बडी आंखों वाली यह सुन्दरी टेढ़ा करके पकड़े हुए दर्पण में स्वयं को प्रशंसापूर्वक निरख रही है। इसका सरस सुगठित शरीर, जो हारों और फीतों, सजी हुई तगड़ियों और सुंदर कंकणों से अलंकृत है, बड़ी ही सम्मोहक मुद्रा में है। इस मुद्रा में उसके स्त्री-शरीर की सब बलखाती रेखाएं और लोच उभर आए हैं। एक अलौकिक पशु उसकी ओर मुंह किये खड़ा है और इतने विपुल सौन्दर्य की ओर से अपनी आंखें हटा नहीं पा रहा है।

चित्र संख्या ४० में प्रस्तुत 'पुरुष का धड़' भी पुरुष-शरीर के सौन्दर्य को लगभग समान रूप से उभारता है। यह पुरुष अनेक आभूषणों, जवाहरातों और झालरों से सजा है। इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि कोई पुरुष आभूषणों के ऐसे भारी बोझ को ढोता घूमता होगा। लेकिन जब हम अन्य युगों में कितने ही देशों की असाधारण वेशभूषाओं, मखमल, लेस और झालर, जजीरें, अंगूठियां, अठारहवी सदी में यूरोपीय लोगों द्वारा पहने जाने वाले नकली बालों आदि का विचार करते हैं तो यह बात निश्चित प्रतीत होती है कि भारत में ग्यारहवीं शताब्दी में कुछ पुरुषों द्वारा ऐसे व्यक्तिगत आभूषण सचमुच ही पहने जाते रहे होंगे। अधिक आश्चर्य की बात यह है कि इतने अधिक अलकरण के बावजूद मूर्तिकार सुन्दर पुरुष-आकृतियों को इतनी कुशलता के साथ उभारने में सफल रहा है।

लेकिन हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कलाकार तब सबसे अधिक खुश होता है, जब वह मानव-शरीर की ठेठ सुन्दरता पर अपना अधिकाश ध्यान केन्द्रित कर रहा होता है। चित्र संख्या ४१ में खजुराहो से ही ली गई वामन मन्दिर की एक 'बाला' की बल खाती आकृति में यह बात देखी जा सकती है। बारीकी से देखने वाले यह पायेंगे कि अधिकांश भारतीय मूर्तियों की तरह ही यहां भी अधिकतर आकर्षक आकृतियां, विशेषकर स्त्रियों की आकृतियां, नृत्य-मुद्राओं में ही हैं। प्रस्तुत स्त्री के शरीर पर बहुत ही कम कपड़े हैं और संभवत: उसे ओडिसी नृत्य की एक सुन्दर मुद्रा में मूर्त किया गया है। इसका एक पैर पीछे को झूल रहा है और

यह पश्चिमी बैले नृत्य की ट्रायसीम (troisieme) मुद्रा के समान है। अब हम अतीत के आद्य युग की तरह (चित्र संख्या ५) रुढ़ और सीधे-समक्ष दृश्यों तक सीमित नहीं रहे हैं, मूर्तिकार अब लहराती आकृति के पृष्ठ-देश में नया सौन्दर्य और लालित्य देखता है।

देवताओं की आकृतियां भी, जैसा कि चित्र संख्या ४२ के 'देवता और देवियां, दो बालाओं के साथ' (खजुराहो), से प्रकट है, अब रूढ़ के स्थान पर सहज मुद्राओं में खड़ी होती हैं और उन्हें सुन्दर मुकुट और आभूषणों से सुसज्जित मानव-आकृतियों के रूप में पेश करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। अपने हाथों में वे अपनी दिव्य शक्तियों के प्रतीक लिए हैं। मिट्टी का कलश, गदा, सर्प और एक पुस्तक का पृष्ठ। लेकिन जो बाला वहां खडी है, वह सहज होकर अपनी पीठ हमारी ओर किये है मानो अपने आकर्षणों से हमारी आंखों को तृप्त कर रही है।

शायद इस बारोक शैली की सबसे विशिष्ट रचना चित्र संख्या ४३ में प्रस्तुत 'वनदेवी' की विलक्षण कोष्टक आकृति है। यह पुरुषों, स्त्रियों, वेतालों, पिशाचों, अलौकिक पशुओं और ऊपर उठे हाथियों की विविध आकृतियों के साथ मिलकर खजुराहो के लक्ष्मण मदिर की एक कड़ी को थामे है। यह कड़ी देवायतन के अन्दर एक बृहद् स्तम्भ के शीर्ष पर रखी है। मूर्तिकार के उत्साह और सुरुचि के पक्ष में जितना भी कहा जाय कम है, कि उसने दृष्टि से ओझल ऐसे एक स्थान में भी ऐसे आह्लादकर सौन्दर्य को तराशा है। मदिर के कक्ष की छत के पास अन्धेरे में उसे कठिनाई से ही देखा जा सकता है। इस नृत्य-मुद्रा के संगीत से व्यक्ति तत्काल ही प्रभावित होता है। यह लहरदार सुन्दर आकृति यद्यपि निस्सदेह एक वृक्षदेवी की है, पर, लगता है, इसे नृत्य के बीच इस मुद्रा में मूर्त कर लिया गया है। इसका ऊपरी आधा शरीर मुड़ा हुआ है। लेकिन इस आकर्षक मरोड़ में उसका पृष्ठ और वक्ष दोनों ही प्रदर्शित हैं। उत्कीर्णन बहुत ही उत्कृष्ट है। गुच्छे और फीते, नर्तकी के अचानक मरोड़ खा जाने के साथ झूल उठे हैं। पेड़ को, जिसमें वह रहती होगी, बहुत कुछ मेहराब की आकार के अलकरण में बदल दिया गया है। अलौकिक पशु और बौने दैत्य उस शीर्ष को थामे हैं, जहां से आरम्भ करके उसका स्मारक कड़ी तक पहुंचता है। शीर्ष और कोष्ठक की यह जटिल रचना असली बारोक आकृतियों से भरपूर है। इससे अधिक जटिल यह शायद ही बनाई जा सकती थी।

उड़ीसा में बारोक का अन्त

यद्यपि भारत के अधिकांश स्थानों में बारोक शैली रोकोको में परिवर्तित हो गई, पर उड़ीसा में १२५० ईसवी जितनी बाद की तिथि में बना एक शानदार स्मारक है, जिसे एक प्रकार से बारोक कलाकार का, मानव-शरीर की भव्यता में उसकी आस्था का, अन्तिम जोरदार दावा कहा जा सकता है। यह है कोणार्क का प्रसिद्ध और निश्चय ही अद्वितीय सूर्य मन्दिर।

इस पुस्तक में मैंने ऊपर कहा है कि भारतीय मूर्तिकला 'बहुत थोड़े, कुछ अपवादों को छोड़कर', उच्चित्र मूर्तिकला है। 'गोलाकार' में बनी मूर्तियां कभी-कभी ही दीख पड़ती हैं। यहां (चित्र संख्या ४४ और ४५ देखिये) तेरहवी शताब्दी के मध्य में इसके कुछ आश्चर्यजनक अपवाद हमें दीख पड़ते हैं। ललित और बृहद् आकार की ये दिव्य संगीतकार लडकियां, कोणार्क के सूर्य मन्दिर की ये दैवी अप्सराएं, पूरी तरह गोलाकार में निर्मित है। ये त्रिआयामीय आकृतियां हैं। ये दीवार से दूर, खुले आकाश के नीचे खड़ी हैं। दूर से ही इन्हे अपने बाजे बजाते देखा जा सकता है। ये बाजे हैं—करताल, बासुरी और ढोल। इन्हें कला की सबसे आकर्षक और ललित रचनाओं में गिना जाना चाहिए। अपने विशाल, सशक्त शरीरों में ये बीसवी शताब्दी के प्रसिद्ध फ्रांसीसी मूर्तिकार आरिस्तीद माइलोल की कृतियों की याद दिलाती हैं। इनके पैर नृत्य के लिए तैयार हैं और सगीत की लय के साथ ताल दे रहे हैं। ये जीवन और

चेष्टा से पूर्ण उत्कृष्ट कलाकृतियां हैं और फूले हुए केश-गुच्छों का 'बूफी' (bouffi) सा जूड़ा बनाये हैं और मुकुट तथा आभूषण पहने हैं। भारतीय कला में कहीं इनकी समानता नहीं है और ये इस बात का एक और उदाहरण प्रस्तुत करती हैं कि भारत का कलाकार व्यक्तिगत स्तर पर पूरी तरह स्वतंत्र था और मौलिक सृजन-शक्ति से सम्पन्न था। यह बारोक युग की इस विशेषता के भी अनुकूल है कि मुंडेर पर स्थित इन अप्सराओं जैसा असामान्य कुछ तराशा जाये। बारोक नये से, आकर्षक से, और असामान्य से विशेष अनुराग रखता है।

दक्षिणी भारत में बारोक

उत्तरी भारत की तरह ही दक्षिणी भारत में भी बारोक उसी समय विकसित हुआ, लेकिन आरंभ में सादा और कम आडम्बरपूर्ण आकृतियां बनाई गईं। परंतु बारहवीं शताब्दी तक पहुंचते-पहुंचते इसमें भी उतनी ही भरावदार, विविध और भड़कीली आकृतिया बनाई जाने लगी जैसी कि उत्तर भारत में हर कहीं मिलती हैं। उदाहरण है चित्र-सख्या ४६ में प्रस्तुत एक दाढीवाले ढोलची के साथ 'नर्तकियां' जो चिदम्बरम् (तमिलनाडु) के महान शिव मन्दिर में है।

यह एक सजीव दृश्य है। इसमें चार नर्तकियों को प्रफुल्ल गति एवं ओजपूर्ण नृत्य-मुद्राओं में मूर्त्त किया गया है। सबसे बाईं ओर की लड़की अपने दोनों हाथों से ढोल बजाने का भाव प्रदर्शित कर रही है। इन चारों की आकृतिया ललित हैं और इनके मुकाबले में दाढ़ीवाला ढोलची, जो अपने पैर से लय पर ताल भी देता जाता है, विचित्र संन्यासी जैसा प्रतीत होता है। इनके ऊपर चलते हुए शेरों की एक चित्र-वल्लरी है। ये शेर बहुत कुछ अलौकिक रूप में बनाए गए हैं। दोनों ओर सुन्दर रूप में सरचित बेलें बनी हुई हैं। निकट से देखने पर पता चलता है कि लड़कियां बड़ी सख्या में हार, कंकण, कुडल और छल्लों वाली जड़ाऊ तगड़ियां पहने हैं जिनमें झब्बे लटक रहे हैं। यह सब बारोक रुचि के अनुकूल ही है। आश्चर्य की बात यह है इनमें कोई भी घुंघरू नहीं पहने हैं, पर यदि हम थोड़ा ऊपर देखें तो वे पिंडलियों के पास बंधे दीखते हैं, जो कुछ असामान्य-सा है।

अगले दो चित्र (चित्र संख्या ४७-४८) पूर्वी भारत से लिए गए हैं। चित्र संख्या ४७ उड़ीसा में मयूरभंज के खिचिग स्थान से प्राप्त ठेठ बारहवी शताब्दी की एक कृति है जिसमें 'देवी गंगा' (गंगा नदी) को उत्कीर्ण किया गया है। प्राचीन रोम की तरह ही यहां भी नदियों की अपनी सांकेतिक दिव्य आकृतियां होती थीं और वे वैभव देने वाली और अन्न को पकाने वाली मानी जाती थी। यह सुन्दर मुस्कराती देवी बढ़िया आभूषणों से सजी है—जड़ाऊ मुकुट, हार, कुण्डल, कंकण और तगड़ियां जिनसे कि हीरे-मोतियों के छल्ले लटके हैं। उसके पीछे और भी अधिक आभूषण हवा में लटके हैं। दो सुन्दर, छोटी, दासी बालिकाएं उसके सिर पर प्रतीकात्मक दिव्य छतरी ताने हैं और एक दासी राजकीयता अथवा दिव्यता का प्रतीक, चंवर डुला रही है। दाहिनी ओर की सेविका अपनी दाहिनी भुजा को भेंट देने की मुद्रा में फैलाए है। कितनी ही छोटी-छोटी अतिरिक्त आकृतियां गंगा के सिर के ऊपर के मेहराबदार गोखे में सुशोभित है। नदी की देवी के पैरों के नीचे सरस फूल खिल रहे हैं और जिस मगर पर वह खड़ी है, वह भी बारोक रुचि के अनुसार फूलों के एक अलकरण के रूप में बदल दिया गया है। देवी का शरीर बहुत ही ललित युवती के रूप में तराशा गया है। वह एक शिथिल पर सर्पीली मुद्रा में है और शोभा से भरपूर है।

इससे भी अधिक ज्ञानवर्धक और बारोक शैली की दृष्टि से ठेठ है चित्र सख्या ४८ में प्रदर्शित 'उपदेश देते मुकुटधारी बुद्ध', जो बगाल से लिया गया है। यहां यह बात स्पष्ट रूप में प्रदर्शित है कि युग की प्रचलित रुचि विद्वान पुरोहितों और पंडितों द्वारा निर्मित सभी नियमों से बहुत अधिक शक्तिशाली है। प्रतिमा-विद्या (प्रतिमा-विज्ञान अर्थात् दिव्य पुरुषों की प्रतिमाए किस रूप और आकार में बनाई जानी चाहिए) के नियमों और

ग्रादेशों के अनुसार बुद्ध को सभी प्रकार के प्रसाधनों से रहित होना चाहिए था, क्योंकि उन्होंने इस संसार के सभी ग्राडम्बरों का त्याग कर दिया था। उनका सिर घुटा हुग्रा होना चाहिए था ग्रौर उन्हें भिक्षु की सादी भूषा के सिवाय कुछ भी पहने हुए नहीं होना चाहिए था, परंतु बारोक कलाकार इतनी सादी प्रतिमा को बर्दाश्त ही नहीं कर सकता था। फलतः यहां हम भड़कीले मुकुट से सजे बुद्ध को देखते हैं। वे विशाल कुण्डल पहने हैं। दो कीमती हार, यहा तक कि पाजेब भी उन्हें पहनाई गई है। सौ वर्षों पहले कोई भी ऐसे विचार तक को ग्रनुचित मानता। फिर, इस ग्राकृति को सारनाथ में ग्रपना पहला उपदेश देते हुए दिखाया गया है। इसका संकेत देने के लिए धर्मचक्र ग्रौर उसके दोनों ग्रोर खड़े मृगदाव के दो मृग प्रतीक रूप में चौकी पर ग्रंकित हैं। बुद्ध के दोनों कंधों के ऊपर दो ऊंचे स्तूप उड़ते हुए दिखाए गए हैं। उनके ऊपर एक सुसज्जित मेहराब है जिसमें एक दैत्याकार मगर ग्रथवा मकर-ग्रलंकरण है। इसके जबड़ों से दो सर्प-देवता निकल रहे हैं, जो प्रार्थना ग्रौर उपासना की मुद्रा में हाथ जोड़े ऊपर की ग्रोर उठे हैं। मेहराब को दोनों तरफ दो जटिल भित्ति-स्तम्भ थामे है। चेहरा सच ही बहुत सुन्दर है ग्रौर हाथ भी, जो उन्हें हाल ही में प्राप्त ज्ञान के चार ग्रार्य-सत्यों को मानो गिनते हुए दिखाए गए हैं (वे दाहिने हाथ की चौथी उंगली को जरा छू भर रहे हैं)। यह इस युग की बारोक शैली के सामान्यतः प्रचलित फैशन की साक्षी एक विशिष्ट कृति है। इस फैशन में ग्रलंकृत प्रस्तुतीकरण के प्रेम के पीछे सभी नियमों की उपेक्षा कर दी जाती है। बंगाल में पाल ग्रौर सेन युग की कुछ मूर्तियों में ग्रौर भी ग्रधिक प्रचुर ग्रौर भरावदार सजावट मिलती है।

बारोक का रोकोको में परिवर्तन

बारहवीं शताब्दी के ग्रन्त तक, ग्रौर तेरहवीं में तो निश्चित रूप से, बारोक शैली का स्थान रोकोको शैली ले लेती है। रोकोको बारोक शैली की ग्रतिरंजना मात्र से कहीं ग्रागे है। वह बारोक के ग्रलंकरण-प्रेम के प्रचुर रूप से भी ग्रागे बढ़ी हुई चीज है। रोकोको के युग में भी व्यापक ग्रौर संकुल ग्रलंकरण की प्रशंसा की जाती है, परंतु रोकोको में हमें इससे कहीं ग्रागे एक मूलभूत परिवर्तन देखने को मिलता है। यह परिवर्तन ठीक उसी ढंग का है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जैसे कि रीतिवादी शैली क्लासिक रुचि में मामूली हेर-फेर से कहीं ग्रागे की चीज है—इसमें क्लासिक ग्रादर्श का निषेध ही कर दिया जाता है।

सबसे स्पष्ट बात, जहां रोकोको बारोक से बहुत ग्रलग है, यह है कि **इसमें मानव-ग्राकृति के सौन्दर्य के प्रति ग्रनुराग को ही खत्म कर दिया गया है। रोकोको कलाकार ग्रपने पूर्ववर्ती बारोक मूर्तिकारों के प्रमुख विषय, सुन्दर पुरुष ग्रथवा ललित स्त्री-शरीरों, के चित्रण में कोई रस नहीं लेता।** रोकोको कला में नग्न स्त्रियों ग्रौर प्रेम-दृश्यों की ग्राकृतियां ग्रलंकरण की एक ग्रसंगत भीडभाड ग्रौर काल्पनिक एवं छाया-चित्रात्मक ग्राकृतियों के नीचे लगभग गायब ही हो गई है। तथ्य यह है कि इस कला में ग्राभूषणों, फूलों ग्रौर पशुग्रों के ग्रलंकरण मानव-ग्राकृति से कहीं ग्रधिक महत्वपूर्ण बनते चले गए हैं। पुरुष ग्रौर स्त्रियां, देवता ग्रौर देवियां सजावटी ग्रलंकरणों के इस जंगल में लुप्त ही हो गए हैं, यहां तक कि सजावट के सिवाय कुछ भी नहीं बचा है। पशुग्रों तक को फूलों के ग्राभूषणों में बदल दिया गया है। तेरहवीं शताब्दी में मानव-शरीर ग्रथवा देवता को कठिनाई से ही ढूंढ निकाला जा सकता है, एकाध कहीं ग्रलंकरण के वैभव के नीचे दबा-दबाया मिले तो मिले।

तमिलनाडु के श्रीरंगम मन्दिर से ली गई, 'काल्पनिक प्राणियों की स्तम्भावली' चित्र संख्या ४६ में प्रस्तुत है। इनमें यद्यपि ग्राकृतियों को खोज निकाला जा सकता है, पर दुःस्वप्नात्मक, काल्पनिक प्राणी ही यहां हावी है। ग्रग्रभूमि में स्तम्भ के कोष्ठक पर एक जलतुरंग जैसे दैत्य को एक उड़ते हुए जंगी घोड़े के नीचे प्रदर्शित किया गया है। इस घोड़े की गर्दन, ज़ीन, माथा ग्रौर टांगें ग्राभूषणों से



खजुराहो (मध्य प्रदेश) के वामन मन्दिर की एक सुन्दरी। पूर्वी द्वार के बाहर। पत्थर। लगभग ११०० ईसवी। ६९
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ४१



७० दो सुन्दरियों सहित देवता और देवी। महादेव मन्दिर खजुराहो (मध्य प्रदेश) पश्चिमी मुहार। बलुआ पत्थर। लगभग ११०० ईसवी। (फोटो : चार्ल्स फाबरी)



वनदेवी। लक्ष्मण मन्दिर, खजुराहो (मध्य प्रदेश) के भीतर पत्थर का ब्रैकिट। लगभग ११०० ईसवी।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ४३



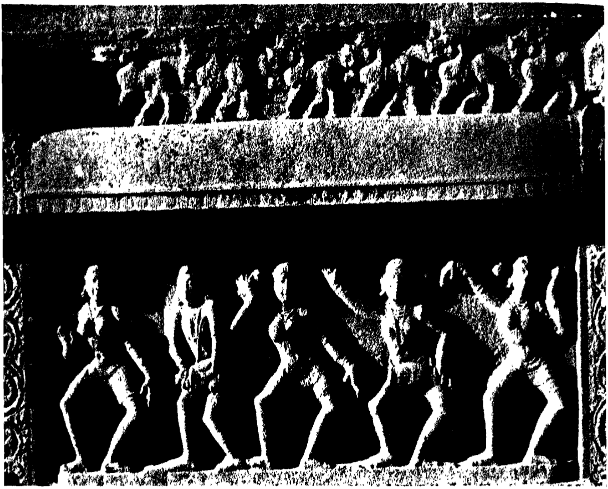
७२ मर्दल बजाती दिव्य संगीतकार। कोणार्क (उड़ीसा) विशाल पाषाण-प्रतिमा। लगभग १२५० ईसवी।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ८४



वंशी बजाती दिव्य संगीतकार। कोणार्क (उड़ीसा) विशाल पाषाण-प्रतिमा। लगभग १२५० ईसवी।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ८५



दाढी वाले ढोलची के साथ नर्तकियां। चिदम्बरम् (तमिलनाडु) के शिव मन्दिर में। पत्थर। १२०० ईसवी।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ४६



देवी गंगा । पत्थर । खिचिंग (उड़ीसा) १२वीं शताब्दी ईसवी ।
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र ४७



७२ उपदेश देते हुए मुकुटधारी बुद्ध। बंगाल। पत्थर। १२०० ईसवी।
(फोटो : जोल्टन करोश, बुडापेस्ट)

चित्र ४८



विलक्षण प्राणियों की स्तम्भ-शृंखला । श्रीरंगम् मन्दिर (तमिलनाडु) पत्थर । १२वीं शताब्दी ईसवी । ७७
(फोटो : चार्ल्स फाबरी)

चित्र ४६



नाचती हुई अप्सरा, ब्रैकिट आकृति । चन्नकेशव मन्दिर बलूर (मैसूर) । पत्थर । १११७ ईसवी ।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ५०



शेषनाग पर विराजमान विष्णु। केशव मन्दिर, सोमनाथपुर (मैसूर)। पत्थर। ११८८ ईसवी।

(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ५१



८० द्वार-रक्षिका । होयसलेश्वर मन्दिर, हलेबिड (मैसूर) । पत्थर ११४३ ईसवी ।
(फोटो चार्ल्स फाबरी)

चित्र ५२

प्रचुर रूप में सुसज्जित हैं। योद्धाओं में से एक ढाल लिए हुए है, जो विशाल कमल के फूल जैसी लगती है। इस स्तम्भ की जुट के ऊपर और नीचे दर्जनों अच्छी तरह अलंकृत आकृतियां हैं, जो वहां की एक-एक इंच जगह को घेरे हैं।

दक्षिण भारत के कुछ मन्दिरों में 'हजार खम्भों वाले कक्ष' की बात की जाती है और यह अनुमान बहुत ज्यादा भी नहीं है। ऐसे सैंकड़ों दुःस्वप्नात्मक, अपरूप, अतिरंजनापूर्ण स्तम्भ और भित्ति-स्तम्भ छत को थामे हुए हैं और आख्यानों में वर्णित भीड़ के भीड़ पशु और प्राणी, जिन्हें बेशुमार अलंकरणों से लाद दिया गया है, उनका हाथ बंटा रहे हैं। मूर्ति-विद्या अर्थात् दैवी प्रतिनिधित्व का विज्ञान अब कोई विशेष भूमिका अदा नहीं करता। वस्तुत. यह कभी भी इतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितना कि कुछ विद्वान समझते रहे हैं। पंडितों के अनुमान से कहीं अधिक मुक्त रूप से अपनी कल्पना और सामयिक फैशनों का उपयोग कलाकार करते थे और यह कला का रोकोको युग है, जिसमें निश्चित रूप से वे अपने समय की रीति और फैशन से प्रेरित होते हैं। काल्पनिक कथाओं के इन कक्षों में सब प्रकार के भयों, सपनों एव दुःस्वप्नों को मानो जीवन्त रूप दे दिया गया है। शैली हमेशा से ही विद्वान पुरोहितों एवं धर्माधिकारियो की धारणाओं से कहीं अधिक महत्वपूर्ण रही है। बुद्ध और देवताओं को प्रचलित फैशनों के सामने झुकना पड़ा है। एक युग के बुद्ध या सूर्य देवता दूसरे युग के बुद्ध या सूर्य देवता से कही अधिक भिन्न वेशभूषा में दिखाई देते है।

चित्र संख्या ५० में प्रस्तुत मोहक 'अप्सरा' अथवा दिव्य नर्तकी मैसूर राज्य में बेलूर के चेन्नकेशव मन्दिर के एक स्तम्भ-शीर्ष पर स्थापित एक कोष्टक आकृति है। कभी वह एक सम्पन्न और भरावदार हार से पूरी तरह ढकी हुई थी। सदियां गुजरने के साथ वह हार टूटकर गिर पड़ा है। अब उसके सुन्दर शरीर को, कम से कम कमर से ऊपर, साफ तौर पर देखा जा सकता है। यदि हार अपनी जगह पर होता तो उसकी कमर को आप कठिनाई से ही देख पाते। कभी यह कमर उसी प्रकार के असाधारण और लेस जैसे आभूषण के पीछे छुपी हुई थी। यह आभूषण अब भी इस नाचती अप्सरा के लिए एक अद्वितीय पृष्ठांचल बना हुआ है। यह समझ पाना कठिन ही है कि इसे बहुत-कुछ पेड़ के पत्र-पुष्प का सा रूप दिया गया था। लेकिन पेड़ की शाखाओं को कठिनता से ही ढूंढ़ा जा सकता है, क्योंकि वे बहुत बढ़िया किस्म के क्रोशिये के काम जैसे लगने वाले आवरण के नीचे छुप गई हैं।

'विश्व नाग पर विष्णु' चित्र संख्या ५१ में प्रस्तुत है और इसमें यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो गई है कि किस प्रकार रोकोको अलंकरण मानव-आकृति पर हावी हो उठा है। विष्णु के दोनों ओर दो स्त्री-आकृतिया, देवता की शक्तियों, ढोल और चक्र के मानवीकृत रूप लिए हैं। यह आकृति मैसूर राज्य के बारहवीं शताब्दी के सोमनाथपुर स्थित छोटे-से सुन्दर मन्दिर से ली गई है। यहां देवता का शरीर आभूषणों की भीड़ के नीचे दबकर लुप्त हो गया है। वह एक बहुत बड़ा मुकुट पहने है, जो उसके सिर के लिए बहुत ही ज्यादा बड़ा है। उसके कानों, कधों, बांहों, गर्दन और छाती को भारी सख्या में आभूषण और हीरे-जवाहरात ढके हैं। विशाल तगड़िया, जिनसे और अधिक गहनों वाले छल्ले लटक रहे हैं, उसकी कमर पर बधी हैं। भुजबन्धों, कंकणों और पाजेबों का तो उल्लेख ही करना व्यर्थ है। दोनों स्त्रिया भी ऐसे ही दमघोंट अलंकरणों से लदी हैं। मेहराब के आकार की पृष्ठभूमियों को उत्कृष्ट रूप में तराशे गए पत्तों और फलों वाले अलौकिक पेड़ों में बदल दिया गया है। विष्णु के नीचे शेष मन्दिर की झांकी दीख पड़ती है। उसमें विस्तृत अलकरणों की पट्टियां पर पट्टियां है। पवित्र हसों का एक जुलूस है जिसमें आधे हसों को फूलो के ललित अलंकरणों में रूपान्तरित किया गया है। हर हंस अपनी चोंच में एक लटकनयुक्त हार लिए है। इस चित्रवल्लरी के नीचे मगरमच्छों की एक पट्टी है,

जिसमें तीन-चौथाई को फूलों के मनोहर बेलबूटों में ऐसा बदल दिया गया है कि इन बेलबूटों के बीच पशु को ढूंढ़ निकालना बहुत कठिन हो गया है।

अन्त में अब हम शरीर का पूरी तरह उन्मूलन अथवा लोप देखेंगे। चित्र संख्या ५२ में मैसूर राज्य के हलेबिड नामक स्थान के होयसलेश्वर मन्दिर की एक 'द्वार-रक्षिका' की आकृति दिखाई गई है, जो एक चंवर पकड़े है। यह प्रतिमा निश्चित रूप से अलंकरणात्मक उत्कीर्णन की एक प्रतिभाकृति है, परन्तु इसमें स्त्री के शरीर को ढूढ पाना बहुत ही कठिन है। सौ वर्ष पहले स्त्री की लहरदार एवं वक्र, ललित आकृति को महत्व दिया गया था, पर अब उस सौन्दर्य का कोई भी अंश बाकी नही बचा है। बारहवी शताब्दी के इस शिल्प में अलंकरण ने सचमुच तूफान मचा डाला है। तगड़ी ने उसकी कमर और जांघों को पूरी तरह ढक लिया है। हार उसके वक्ष को पूरी तरह आवृत किए है। सेविका जो मुकुट पहने है, वह आधी धरती के सम्राट के लिए भी बड़ा ही होगा। उसके पीछे और सिर के ऊपर का पेड़, पेड़ रूप में दिखाई ही नही देता। भुजबन्ध और कंकण एक दूसरे से टकरा रहे है और दाहिनी ओर दीखती उसके वस्त्र की गोट, जो उसके नितम्ब और जांघों के साथ चलती है, कपडे पर की गई शानदार कशीदाकारी में बदल दी गई है। उसके पैरों के नीचे एक मंचिका है जिसके चारों ओर फूलों के कटावदार बढ़िया काम की पट्टी है। अठारहवीं शताब्दी के यूरोप का कोई भी रोकोको कलाकार ऐसा काम करके भारी यश पा गया होता।

मूर्तिकला का अन्त

एक दृष्टि से तो भारत में मूर्तिकला कभी भी खत्म नही हुई। लोग अब भी बाजारों में और मन्दिरों में सभी प्रकार की प्रतिमाएं बना रहे हैं। लेकिन महान मूर्तिकला, वह मूर्तिकला जो आकृतियों के सौन्दर्य में मानव के उल्लास की एक ललित अभिव्यक्ति थी, बारोक के अंत के साथ ही समाप्त हो गई। उपरोक्त रोकोको कला में जो उत्साह व्यक्त होता है, वह कौशल, श्रम और बारीकी से पूर्ण है परन्तु उसे किसी तरह महान मूर्तिकला नहीं माना जा सकता।

सुदूर दक्षिण में चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दियों तक तांबे की उत्कृष्ट प्रतिमाएं गढी जाती रही और यहां-वहां, बाद की सदियो के जैन मन्दिरो की तरह, पत्थर पर तराशे गए कशीदा-कारी के काम को दिव्य आकृतियों से सयुक्त करके अब भी एक नाजुक काम के रूप में किया जाता है। पर मोटे रूप में यह सब कारीगरी है, कला नही। कला के महान रूप आद्य, क्लासिक, रीति-वादी और बारोक तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व से ग्यारहवीं शताब्दी तक के लम्बे समय में अपना रमणीक कार्य पूरा कर चुके हैं। इन पन्द्रह सौ वर्षों में प्रचलित शैली चाहे कुछ भी रही हो, इस महान देश के महान कलाकारों ने उत्कृष्ट कला की हजारों प्रतिभाकृतियों का निर्माण किया।

शब्दावली

एबेकस (यूनानी-रोमन)—स्तंभ के शीर्ष के ऊपर का भाग।

एकेन्थस (यूनानी-रोमन)—एकेन्थस की पत्ती के अनुरूप बना अलंकरण।

अखमनीद—प्राचीन ईरान का एक प्रसिद्ध वंश। सायरस ने लगभग ५१० ईसा-पूर्व में इसकी स्थापना की थी। इसमें दारियस, जर्कसीज़ और अर्ताजर्कसीज राजा हुए।

आद्य कला—कला के इतिहास का वह आरंभिक युग जिसमें उसका रूप बहुत कुछ अनगढ़ था।

बारोक—क्लासिक और रीतिवादी कला युगों के बाद बारोक शैली प्रचलित हुई।

बोधिसत्व—भावी या आगामी बुद्ध, ऐसा व्यक्ति जिसकी प्रकृति में बोध प्राप्त करना निहित हो; निर्माण होते बुद्ध।

कोष्ठक—स्तभ के ऊपर की शहतीर को थामने के लिए कोण पर लगाई गई वस्तु।

शीर्ष—स्तंभ का सबसे ऊपरी भाग।

क्लासिक—कला की वह शैली और युग जिसमें आदर्शीकरण के साथ शिल्प की कुशलता सम्मिलित है; गभीरता, संतुलन और सौन्दर्य का सरल रूप में प्रयोग इसकी मुख्य विशेषताएं है।

आकारवादी—यथार्थ से भिन्न चित्रण जिसमें निश्चित नियमों के अनुसार निर्माण किया जाए।

गान्धार—एक प्राचीन राज्य जो वर्तमान काबुल घाटी से रावलपिंडी तक फैला हुआ था (पहली शताब्दी ईसा-पूर्व से नवीं शताब्दी ईसवी तक)। पहले यूनानी सभ्यता से प्रभावित पश्चिम एशियावासियों ने इसे रौंदा, फिर यह मध्य एशिया के कुशाण राजाओं के अधीन एक छत्रप प्रान्त रहा।

यूनानी बौद्ध कला—गान्धार कला के लिए प्रयुक्त शब्द जिसमें यूनानी या यूनानी-रोमन तत्त्वों ने बौद्ध कला को प्रभावित किया (पहली शताब्दी ईसा-पूर्व से लगभग छठी शताब्दी ईसवी तक)।

रीतिवाद—क्लासिक के बाद प्रचलित शैली।

उच्चित्र—किसी आधार पर उभार देकर बनाई गई आकृति जो स्वतंत्र रूप से ठहर न सकती हो। इन आकृतियों की पीठ नहीं होती क्योंकि वहां पत्थर, लकड़ी या तांबे की चौरस शिला होती है।

सासानी—ईरान और अफगानिस्तान के राजाओं का एक वंश और उनके अधीन विकसित कला-शैली (दूसरी से चौथी शताब्दी ईसवी)।

गच—एक प्रकार का प्लास्टर जिसे दीवार की सजावट और मूर्ति बनाने के काम में लाया जाता है।

टेराकोटा—पकाई हुई मिट्टी।

विद्याधर—बिना पखों के आकाश में उड़ने वाले दिव्य प्राणी जो प्रायः हार और आभूषण लिए दिखाये जाते हैं।

यक्ष—हिन्दू और बौद्ध धर्मों के एक उपदेवता जो पेड़ों, वनों, नदियों में रहते हैं। इसका स्त्रीलिंग यक्षी होता है।